३४. उत्तम-क्षमा

१. सामान्य परिचय; २. गृहस्थ की क्षमा; ३. साधु की क्षमा; ४. अध्यात्म सम्बोधन; ५. गृहस्थ को प्रेरणा।

१. सामान्य परिचय

कोहो पीइं पणासेइ, माणो विणयणासणो।
माया मित्ताणि नासेइ, लोहो सव्वविणासणो॥
उवसमेण हणे कोहं, माणं मद्दवया जिणे।
मायं चऽज्जवभावेण, लोभं संतोसओ जिणे॥

"क्रोध प्रीति को नष्ट करता है और मान विनय को, माया मैत्री को नष्ट करती है और लोभ सर्व-विनाशक है। अत: कषायों को जीतना साधु का सर्वप्रधान तथा सर्वप्रथम कर्त्तव्य है। उन्हें चाहिए कि क्षमा से क्रोध का हनन करें और मार्दव से मान को जीतें, आर्जव से माया को और सन्तोष से लोभ को जीतें।" साधु-धर्म की प्रक्रिया में उत्तम-क्षमा आदि दस धर्मों का उल्लेख किया गया है। अब उनका क्रम से विस्तार करना है। पहला धर्म है 'उत्तम-क्षमा'।

खम्मामि सव्वजीवाणं, सव्वे जीवा खमन्तु मे।
मित्ती में सव्वभूदेसु, वेरं मज्झं ण केण वि॥

"मैं सब जीवों को क्षमा करता हूँ, सर्व जीव भी मुझे क्षमा करें। मेरा उनके प्रति मैत्री का भाव है और किसी के साथ भी मुझे वैर नहीं है।" इस प्रकार के आत्म-परिणाम का नाम है उत्तम-क्षमा। क्रोधाग्नि को बुझाने के लिए इसके अतिरिक्त और कोई शीतलधारा नहीं। क्षमा का अर्थ है शान्ति और परिणामों में क्रोध का न आना है शान्ति। वास्तव में क्रोध है वह भूल जिसके कारण अपनी महिमा अन्तरंग में जागृत होती नहीं। भोगादि सामग्री में अपने सुख का अभाव करके अविनाशी शान्ति की अवहेलना करना अनन्ता क्रोध है। 'परपदार्थों का मैं कुछ कर सकता हूँ और पर की सहायता के बिना मैं कुछ नहीं कर सकता' ऐसी धारणा के द्वारा अपनी शक्ति का तिरस्कार करना, उसके प्रति अनन्ता क्रोध है। प्रभो ! अपनी शक्ति को पहिचान, दूसरे की ओर देखना छोड़, अपने लिए प्रयास कर, अपनी शक्ति से प्रयास कर, दूसरे से सहायता मांगकर भिखारी मत बन।

गृहस्थ व साधु के जीवन में महान अन्तर है, इसलिए उनकी क्षमा में भी महान अन्तर है। गृहस्थ अवस्था में रहते हुए व्यक्ति को अनेकों अवसर क्रोध के आ जाते हैं, साधु को इतने नहीं आते। अल्प-दशा के कारण गृहस्थ को तीव्र क्रोध भी आ जाता है परन्तु साधु को तीव्र क्रोध का तो प्रश्न नहीं, मन्द भी प्राय: नहीं आता है। यदि कदाचित् आ भी जाए तो वह उसे बाहर प्रकट होने नहीं देता, अन्दर ही अन्दर उसे शान्त कर देने का प्रयत्न करता है। क्रोध बाहर में प्रकट हुआ तो साधु काहे का ?

२. गृहस्थ की क्षमा—अब पहले सुनिए गृहस्थ की उत्तम-क्षमा। क्षमा कई प्रकार की हो सकती है। एक वह क्षमा जो किसी प्रतिद्वन्दी के द्वारा किसी भी प्रकार अपनी क्षति हो जाने पर उससे बदला लेने की शक्ति का अभाव होने के कारण चुप्पी साधकर कर ली जाती है, परन्तु अन्तरंग में अभिप्राय यह पड़ा रहता है कि 'यदि शक्ति होती तो मज़ा चखा देता इसको। अच्छा, अब न सही, फिर देख लूंगा।' इस प्रकार अन्तरंग में कटु द्वेष की ज्वाला में भुनते हुए भी बाहर से कह देना कि 'जा तुझे क्षमा किया।' इसी के अन्तर्गत वह क्रोध भी आ जाता है जो अंतरंग में न जाने कब से चले आये द्वेष के रूप में पड़ा रहता है और बाहर में उस व्यक्ति से खूब मित्रता सरीखी दिखाता है, सहानुभूति दर्शाता है इत्यादि। इसको कहते हैं मात्सर्य। इस प्रकार के दिखावटी भाव को तो लोक में भी क्षमा नहीं कहते, तब इस प्रकरण में कैसे कह सकते हैं। वह क्रोध से भी अधिक घातक है, क्योंकि बहुत लम्बे समय तक बराबर अन्तरङ्ग में द्वेष बना रहता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दूसरे प्रकार की भी क्षमा है, जो प्रतिद्वन्दी को खूब मार-पीट कर अपने अरमान निकाल लेने के पश्चात् 'जा माफ़ किया, फिर ऐसा न करना' ऐसे करने में आती है। वह भी सच्ची क्षमा नहीं है, कहने मात्र की है। शक्ति के अनुसार जो कुछ करना था कर लिया, क्रोध निकाल लिया, फिर क्षमा क्या किया ? यह भी द्वेष की कोटि में आ जाती है, परन्तु पहले के द्वेष और इस द्वेष में महान अन्तर है पहले द्वेष की अपेक्षा इस द्वेष की शक्ति कम है, क्योंकि यह उतने ही समय मात्र के लिये रहकर समाप्त हो जाता है, पीछे मिलने पर उस व्यक्ति से कोई विशेष घृणा नहीं होती।

असली क्षमा वह है जिसमें द्वेष का नाम न हो। गृहस्थ को वह कैसे होती है ? देखिये। कर्त्तव्य-परायण गृहस्थ के लिए अपना कर्त्तव्य निभाते हुए द्वेष करने की आवश्यकता नहीं। अहिंसा वाले प्रकरण के अन्तर्गत विरोधी-हिंसा की बात आई है जो कि संयमी-गृहस्थ भी अवसर आने पर कर गुजरता है, परन्तु गौर करके देखने पर वहाँ आपको द्वेष दिखाई नहीं देगा। शत्रु से युद्ध द्वेषवश नहीं किया जाता, बल्कि आत्म-रक्षा या निज सम्मान की रक्षा के लिए किया जाता है और इसलिए यदि कदाचित् शत्रु को जीत लिया जाए तो उसे तंग नहीं किया जाता बल्कि शान्ति-पूर्वक समझा बुझाकर तथा कुछ उपयोगी शिक्षायें देकर तुरन्त छोड़ दिया जाता है। उसकी दृष्टि केवल आत्मरक्षा की थी सो वह हो गई, इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं चाहिए था, इसलिए अवसर बीत जाने के पश्चात् वह व्यक्ति पहले की भाँति ही दीखने लगता है। यदि पहले मित्र था तो अब भी मित्र दीखता है और यदि पहले सामान्य मनुष्य था अर्थात् न शत्रु था न मित्र तो अब भी वैसा ही दीखता है। यह है गृहस्थ की सच्ची क्षमा।

भारत के वीरों का यही आदर्श रहा है। भगवान राम ने रावण पर चढ़ाई की, परन्तु अन्तिम समय तक यही प्रयत्न करते रहे कि किसी प्रकार युद्ध न करना पड़े तो ठीक। शक्ति की कमी हो इसलिए नहीं बल्कि इसलिए कि अन्तरंग में रावण के प्रति कोई द्वेष नहीं था। उन्हें अपने सम्मान की रक्षा के लिये सीता दरकार थी और कुछ नहीं। उन्हें रावण की स्वर्णमयी लंका की बिल्कुल इच्छा नहीं थी और इसीलिए अन्तिम समय तक यही सन्देश भेजते रहे रावण के पास कि सीता लौटा दो तो हम युद्ध नहीं करेंगे, हमें तुझसे कोई शत्रुता नहीं है। पर रावण न माना तो क्या करें ? सम्मान की रक्षा तो उस समय कर्त्तव्य था ही। यदि उस समय उस कर्त्तव्य को पूरा न करते तो कायर थे। परन्तु ऐसी परिस्थिति उपस्थित हो जाने पर साधु का इस प्रकार का कर्त्तव्य नहीं है क्योंकि ऐसी दशा में साधु को सब समान हैं। आत्म-सम्मान शान्ति मात्र है, शान्ति में बाधक उनके अपने परिणाम ही उनके शत्रु हैं, इसलिए यदि युद्ध करते हैं तो अन्तर-परिणामों से, बाहर के किसी व्यक्ति से नहीं, क्योंकि उनकी दृष्टि में कोई शत्रु है ही नहीं। वे यदि बाहर में किसी व्यक्ति से युद्ध करें तो कायर हैं। दशा भेद हो जाने से कार्य में भेद पड़ जाता है। अपना कर्त्तव्य पूर्ण करने को वे (राम) यद्यपि रावण से लड़े परन्तु जीत होने के पश्चात् उससे अनुचित व्यवहार न किया, उसका सम्मान किया तथा लक्ष्मण को उसे गुरु स्वीकार करने की आज्ञा दी। सीता मात्र को लेकर वापिस आ गए, लंका की एक वस्तु भी नहीं छुई। उन्हें आवश्यकता ही न थी किसी पदार्थ की। बताइये क्या राम को क्रोध था रावण पर ? यह है एक गृहस्थ की उत्तम-क्षमा।

पृथ्वीराज ने सात बार मुहम्मद गौरी को युद्ध में बन्दी बनाया परन्तु हर बार उसे समझाकर छोड़ दिया, उसका कुछ भी नहीं छीना। आत्मरक्षा करनी इष्ट थी, हो गई, आगे कुछ नहीं किया, क्योंकि मुहम्मद गोरी से कोई द्वेष नहीं था उसे। पृथ्वीराज वीर था, क्षमा उसका भूषण था, उसे अपने बल पर विश्वास था, अपनी क्षमा के कर्त्तव्य को भूलकर वह कायर नहीं बनना चाहता था। यह थी भारत के वीरों की आदर्श-क्षमा। कायरों को शोभा नहीं देती यह, वीरों का भूषण है यह। भले ही आज का युग उसे भ्रमवश पृथ्वीराज की भूल बताता हो और उसके इस महान कृत्य को भारत की पराधीनता का कारण बताता हो, परन्तु जगत की यह बात स्वार्थ में से निकल रही है कर्त्तव्य में से नहीं, पामरता मे से निकल रही है वीरता में से नहीं। जिस क्षमा को कायरता कहा जाता है वही सच्ची वीरता थी। भारत का ह्रास पृथ्वीराज की इस क्षमा के कारण नहीं हुआ, बल्कि हुआ जयचन्द के उस द्वेष के कारण जिसके वशीभूत होकर कि उसने पृथ्वीराज से बदला लेने के लिए शत्रु से साज-गाण्ठ की। दोषी की दृष्टि में दोष तो दीखता नहीं, गुण में से दोष निकालने का प्रयत्न करता है। आज के स्वार्थी व कायर लोगों की दृष्टि भी दोष खोजने के लिए पृथ्वीराज की ओर जाती है, जयचन्द की ओर नहीं जो कि वास्तव में दोषी था।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३. साधु की क्षमा—यह हुई गृहस्थ की उत्तम-क्षमा। अब सुनिये साधु की क्षमा। उपरोक्त प्रकार किसी के साथ युद्ध ठानने की स्थिति से वह निकल चुका है। यद्यपि उसके पास कोई पदार्थ ऐसा नहीं जिसका अपहरण करने के लिए कोई उसे तंग करे, इसलिये किसी के प्रति उसे क्रोध आने का प्रश्न नहीं। संज्वलन कषायोदय के आधार पर क्रोध की कमर थपथपाना साधु के लिये आत्म हनन करना है। संज्वलन कषाय बहुत मन्द होती है और कभी बाहर में प्रकट होने नहीं पाती, क्योंकि गृहस्थ-दशा में ही कषायों के संस्कारों का बहुत अंशों में वह विनाश कर चुका है। एक साधक गृहस्थ को भी, बात-बात पर क्रोध या अन्य कषाय उत्पन्न नहीं होती तो साधु को कैसे हो सकती है ?

तदपि आहार आदि के अर्थ चर्चा करते हुए कदाचित् नगरों में जाना पड़े और कोई अज्ञानीजन या कोई पशु कदाचित् उपसर्ग करे तो हो सकता है कि क्रोध आ जाय। और उस महान योगेश्वर में तो आत्म शक्ति भी अतुल है, भले ही शरीर से निर्बल दीखता हो, पर बड़ी-बड़ी ऋद्धियों का स्वामी है। वह चाहे तो एक दृष्टि में भस्म कर दे उसे, या शाप देकर कष्ट-सागर में डुबा दे उसे। परन्तु सच्चे योगियों का यह कर्त्तव्य नहीं। यदि अपनी ऋद्धियों का प्रयोग बाहर में किसी प्राणी पर करता है तो वह योगी नहीं कायर है। योगी किसी को शाप नहीं दिया करते, ऋद्धियाँ होते हुए भी उनका प्रयोग नहीं किया करते। पर-कल्याण के लिए यदि करना पड़े तो कदाचित् कर भी लें परन्तु किसी प्राणी को, वह दोषी हो या निर्दोष, किसी भी उचित व अनुचित कारणवश वे पीड़ा नहीं पहुँचाते, भले प्राण चले जायें। वे सिंह बनकर निकले हैं, शरीर को ललकार कर निकले हैं, इन प्राणों का उनकी दृष्टि में कोई मूल्य नहीं। वे लौकिक नहीं अलौकिक युद्ध लड़ते हैं जो बड़े से बड़ा योद्धा भी लड़ने में समर्थ नहीं। वे अलौकिक शत्रुओं को जीतते हैं जिन्हें कोई जीतने में समर्थ नहीं। उन कायरों पर क्या वार करें जिनको कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का तथा हित-अहित का भी विवेक नहीं। उनके शत्रु बाहर दीखने वाले मनुष्य व पशु नहीं हैं, चाहे साक्षात् शरीर का भक्षण क्यों न करते हों, इसको अग्नि में क्यों न डालते हों, उबलते हुए तेल के कढ़ाये में क्यों न फैंकते हों, कुत्तों से क्यों न नुचवाते हों, क्योंकि जिसे वे क्षति पहुँचा रहे हैं उस शरीर को अपना मानते ही नहीं वे और जो निज-चैतन्य उनका शरीर है उसे कोई क्षति पहुँचा नहीं सकता।

उनके वास्तविक शत्रु हैं अन्तरङ्ग में उनके कषायानुरंजित वे परिणाम जो उन्हें वास्तव में क्षति पहुँचा सकते हैं अर्थात् उनकी शान्ति भंग कर सकते हैं। योगियों का बल कायर व्यक्तियों पर नहीं इन अत्यन्त सुभट शत्रुओं पर चलता है। क्या किसी क्षत्रिय की खड्ग किसी स्त्री पर या नपुंसक पर उठती है ? भले उसके प्राण चले जायें पर क्या वह इनके प्रति युद्ध ठानता है, इनको अपना पराक्रम दिखलाता है ? धन्य हैं वे, उनकी दृष्टि विलक्षण है, वे प्राणियों या वस्तुओं को उस दृष्टि से नहीं देखते जिससे कि हम देखते हैं और इसीलिए आश्चर्य होता है उनके साहस पर। वे सब को तात्विक दृष्टि से देखते हैं, उनकी दृष्टि में वे चैतन्य हैं और शरीर जड़, जिससे उनका कोई नाता नहीं। उनकी दृष्टि में लोक की कोई शक्ति उन्हें बाधा पहुँचाने में समर्थ नहीं, क्योंकि वे अच्छेद्य हैं, अविनश्वर हैं, अदाह्य हैं अर्थात् वे जल नहीं सकते। जब वे छिद भिद सकते ही नहीं, जल सकते ही नहीं, तो कोई कैसे उन्हें छेदे-भेदे या जलाये। छेदना-भेदना तो रहा दूर, उन्हें कषाय उत्पन्न कराने की शक्ति भी किसी अन्य में नहीं है। वे स्वयं क्रोधादि करें तो करें, कोई अन्य नहीं करा सकता। यही तो है वस्तु की स्वतन्त्रता, जो विवेक-ज्ञान वाले प्रकरण में दर्शायी जा चुकी है (देखो ९.४)। विचारिये तो सही कि यदि आप मुझे गाली दें या मारें, और मैं क्रोध न करूँ, तो क्या आप जबरदस्ती मुझे क्रोध करा सकते हैं ? आप मेरी इच्छा के विरुद्ध मुझे क्रोध नहीं करा सकते।

देश-भक्तों को अंग्रेजों ने जेल में ठोंका, अनेकों कष्ट दिये, परन्तु क्या उनमें इतनी सामर्थ्य थी कि उनसे जबरदस्ती उनकी अन्तरङ्ग देशभक्ति के भाव को छुड़ा देते ? मानतुंग आचार्य को अड़तालीस तालों के अन्दर बन्द किया, परन्तु क्या कोई उनके अन्दर जागृत हुई प्रभु-भक्ति पर प्रतिबन्ध लगा सका ? आज यदि मैं आपको कहूँ कि आपको क्रोध करना पड़ेगा तो क्या आप कर सकेंगे ? महात्मा बुद्ध को एक व्यक्ति ने खूब गालियाँ सुनाई पर वे सुनते रहे शान्त भाव से। जब वह व्यक्ति चुप हो गया तो बोले कि "भाई ! यदि कोई वस्तु मैं तुम्हें दूं और तुम न लो तो वह वस्तु किसकी ?" "जिसने दी उसकी।" "तो बस आपने मुझे जो शब्द दिये, मैंने तो उन्हें लिया नहीं क्योंकि मुझे क्रोध आया नहीं, यदि क्रोध आ जाता तो सम्भवतः कह दिया जाता कि मैंने उन्हें स्वीकार किया है। तो अब

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बताओ ये शब्द किसके, आपके या मेरे ?" लज्जित हो गया वह बेचारा। शब्दों में यदि शक्ति होती तो उन्हें क्रोध आ जाता। ऐसी दृष्टि में कोई अन्य उन्हें बाधा पहुँचा सके यह शक्ति किसी में नहीं। अपनी ही किसी कमजोरी के कारण कदाचित् क्रोधादि आते हैं, अतः वह कमजोरी ही शत्रु है, उसके प्रति ही उनका युद्ध है और उसको ही अपना पराक्रम दिखाता है साधु।

४. अध्यात्म-सम्बोधन—(१) उत्तम-क्षमा की बात चलती है। वे महाभाग्य-दिव्यचक्षु योगीजन अपने अन्दर के शत्रुओं को कैसे जीतते हैं ? अलौकिक जीवों के अलौकिक विचार। यदि कदाचित् उनका नग्न वेश देखकर कोई अज्ञानी कटु-वचनों के बाण चलाने लगे, "देखो बैल सरीखा निर्लज्ज पशु कैसे चला आ रहा है, असभ्य कहीं का, नाम मात्र को मनुष्य है, मूढ़ बुद्धि, ढोंग रचे फिरता है, देखो तो कितना भोला दीखता है ऊपर से, लुच्चा कहीं का" इत्यादि अनेकों वचनों द्वारा तीखे बाण ही फैंक रहा हो मानो, कलेजे को छलनी करते निकले जा रहे हों जो। तो वे परम-योगेश्वर उस समय इस प्रकार विचार करते हैं कि "अरे चेतन ! क्यों कलकलाहट सी हो गई है तेरे अन्दर इन शब्दों को सुनने मात्र से ? बस इसी बिरते पर निकला है संस्कारों से युद्ध करने ? अभी तो तुझे कुछ पीड़ा भी होने पाई नहीं, शरीर पर भी कोई आघात हुआ नहीं, फिर यह व्याकुलता सी क्यों ? बता तो सही कि कहाँ लगे हैं ये वचन तुझको ? दायें-बायें, ऊपर-नीचे किधर भी तो चिपके दिखाई नहीं देते ? कैसे मानता है अपने को घायल ? तू चैतन्य, ब्रह्म, अच्छेद्य व अभेद्य, इसका घायल होना तो असम्भव है ही अपितु यहाँ तो यह शरीर भी घायल नहीं हुआ, तुझे पीड़ा क्यों होने लगी ? क्या शब्दों में इतनी शक्ति है कि बिना आघात पहुँचाये तुझे पीड़ित कर दें ? परन्तु ऐसा होना असम्भव है। ऐसा माने तो तेरे में और लोक के अन्य जीवों में अन्तर ही क्या रहा ? तू किस प्रकार अपने को शान्ति-पथ का पथिक कह सकता है।"

"केवल इन दो-चार शब्दों मात्र से तू क्यों अपनी शान्ति को अपने हाथ से लुटा रहा है, इतनी दुर्लभता से प्राप्त करके इसे मुफ्त में ही दिये जा रहा है ? कहाँ गई तेरी बुद्धि, कहाँ गया तेरा विवेक, अपने हित को क्यों नहीं देखता ? इस समय विश्व में सर्वत्र ही तो किसी ने किसी के द्वारा कोई न कोई शब्द बोला जा रहा है, उनके द्वारा क्यों विह्वल नहीं हो रहा है तू ? यह भी तो विश्व में रहकर ही बोल रहा है, उन असंख्यात शब्दों में एक यह भी सही। जब उनके द्वारा तुझे बाधा नहीं हो रही है तो इसी के द्वारा क्यों हो ? जहाँ कटु-शब्द बोले जा रहे हैं, वहाँ इस विश्व में कहीं न कहीं मिष्ट व प्रशंसा के शब्द भी तो बोले ही जा रहे हैं। यदि इनको सुनता है तो उनको क्यों नहीं सुनता ?"

"और फिर वह भी तो झूठ नहीं कह रहा है, दोष तुझमें होंगे तभी तो कहता है। वह तो बड़ा उपकार कर रहा है, तुझे तेरे दोष दिखाकर सावधान कर रहा है। कितना दयालु है वह ? निष्कारण तेरा रोग दूर करने की भावना करता है। और यदि अनहुए दोष कह रहा है तो भी अच्छा ही है कि 'भविष्य में दोष उत्पन्न न हो जायें, ऐसी भावना द्वारा पानी आने से पहले ही पुल बान्धने को कह रहा है। इससे अच्छी बात और क्या हो सकती है ?' और भी अनेकों इसी जाति के शीतल विचारों द्वारा उस अवसर में अपने को शान्त रखता है वह, क्रोधाग्नि को उठने से पहले ही शान्त कर देता है वह। यह है योगी की उत्तम-क्षमा।

(२) यदि कदाचित् ऐसा अवसर भी आ पड़े कि कोई उसके शरीर को पीटने लगे, थप्पड़ मुक्के मारने लगे, तो भी वह वीर शान्ति को हाथ से जाने नहीं देता। विचारता है कि "अरे चेतन ! क्या हुआ, क्यों पीड़ा होती है, क्या कोई बाधा पहुंची है तुझे ? तू तो अब भी अपनी सर्व शक्तियों को समेटे पूर्ण गुप्त अपने ज्ञान-दुर्ग में बैठा है। क्या तुझे भी कहीं थप्पड़ लगा है ? लगा है तो बता, कहाँ पीड़ा हो रही है तुझे ? क्या ज्ञान में ? परन्तु ज्ञान में पीड़ा होने का क्या काम, वह तो जानता मात्र है। कहाँ चोट लगी है तुझे ? क्या शरीर की चोट को अपनी चोट समझ बैठा है ? अरे ! कहाँ चला गया तेरा विवेक ? यदि शरीर की चोट को चोट माने तो इस स्तम्भ पर पड़ी चोट को भी अपनी चोट मानना चाहिए। क्या अन्तर है शरीर में और इस स्तम्भ में ? वह भी जड़ और यह भी जड़। यदि क्रोध आ जाता तो अवश्य माना जा सकता था कि तुझे चोट लगी है। पर क्रोध उत्पन्न करने वाला तो तू स्वयं ही है, ये बेचारे प्राणी तुझको क्रोध कैसे उत्पन्न करायें, कौन सा ऐसा हथियार है उनके पास ? और फिर यदि शरीर को कुछ बाधा पहुँची भी तो क्या हुआ,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इसका विनाश तो हुआ नहीं, तेरे संयम में तो बाधा पड़ी नहीं, तेरा मार्ग तो रुका नहीं ? जितने दिन भी यह है उतने दिन तक तो तू पुरुषार्थ कर ही सकता है। क्यों इतने मात्र से निराश सा हुआ जाता है ?" इत्यादि अनेक प्रकार के विचारों द्वारा क्रोध पर प्रतिबन्ध लगा देता है वह, उठने से पहले ही उसे दबा देता है वह। यह है योगी की उत्तम-क्षमा।

(३) और यदि कदाचित् ऐसा अवसर भी आ जाय कि कोई प्राण ही लेने को उद्यत हुआ हो, करोंत से चीरने को तैयार हो, बन्दूक ताने सामने खड़ा हो, अन्ध-कूप में धकेलने को तैयार हो, आधा जमीन में गाड़ कर दही छिड़क रहा हो शरीर पर उसे कुत्तों से नुचवाने के लिए, पकते हुए तेल के कढ़ाये में धकेलने को तैयार हो, कोल्हू में डाल दिया हो इस शरीर को, तो भी वह निर्भीक सिंहवत् विचारता है "अरे चेतन क्या हुआ है, क्या सोच रहा है, क्यों भयभीत-सा दिखाई देता है ? क्या इसलिए कि मृत्यु आने वाली है ? अरे तो आने दे, कौन बड़ी बात है, मृत्यु आना तो स्वभाव ही है ? और फिर इस जर्जरित शरीर को छीनकर एक नया शरीर प्रदान करने वाली ऐसी महा-माता से भय काहे का, इसमें अनिष्टता काहे की ? यह तो तेरी उपकारिनी है जो नवीन शरीर प्रदान करके तुझे तेरी साधना में सहायता देने को उद्यत हुई है। कितना बड़ा उपकार कर रही है यह तेरा ? यदि मृत्यु से ही डर लगता है तो अपनी वास्तविक मृत्यु से क्यों नहीं डरता, जो क्षण-क्षण-प्रति तुझे आ रही है ? एक विकल्प हटकर दूसरा, दूसरा हटकर तीसरा और तीसरा हटकर चौथा, क्षण-प्रतिक्षण जो तेरी शान्ति का घात कर रहे हैं। तेरा शरीर तो शान्ति है, यह चमड़ा नहीं। इसकी मृत्यु तेरी मृत्यु कैसे हो सकती है ? शान्ति की मृत्यु तो यह करने को समर्थ नहीं, वह तो तू स्वयं ही है। यदि तू क्रोध करे तो तेरी मृत्यु अवश्य हो जाए, पर वे बेचारे रंक तो क्रोध कराने को समर्थ नहीं, वह तो तू स्वयं ही है। तब ये तेरे घातक कैसे हो सकते हैं ? जो तुझे जानते ही नहीं वे बेचारे तेरा घात क्या करेंगे और तुझे जो अविनश्वर ज्ञानपुञ्ज जानते हैं वे तेरा घात क्या करेंगे ? वे बेचारे अज्ञानी स्वयं नहीं जानते कि क्या करने जा रहे हैं वे। इन पर द्वेष कैसा ? क्या बालकों की अज्ञान-क्रिया पर भी कभी किसी को द्वेष हुआ करता है ? ये भी तो बालक ही हैं जिन्होंने अभी आँख खोलकर देखा ही नहीं। कैसे जान सकते हैं कि वे स्वयं कौन हैं ?"

"और फिर यदि इन्हें यह कार्य करने से प्रसन्नता ही मिलती है तो इसमें तेरा क्या हर्ज है ? लोग तो बड़ा-बड़ा दान देकर, बड़ी-बड़ी सेवाएँ करके, बड़े-बड़े कष्ट झेलकर किसी को प्रसन्न करने का प्रयत्न किया करते हैं और ये बिना कुछ किये सहज ही इस शरीर के साथ खेल-खेल कर प्रसन्न हो रहे हैं, तो इससे अच्छी बात क्या है ? तेरा सर्वस्व तो शान्ति है, उसे हरण करने को ये समर्थ नहीं और फिर भी प्रसन्न हुए जा रहा है, इससे इच्छी बात और क्या है ?"

"क्या विचारता है, कि यह तेरा शत्रु है ? परन्तु भी चेतन ! कहाँ गई तेरी बुद्धि ? क्या हो गया है आज तुझे ? क्या नींद आ रही है ? अरे तुझे कोई बड़ा रोग हो जाए, तू सड़क के किनारे पड़ा हो और कोई अपरिचित पथिक तुझे अपनी मोटर में बैठाकर हस्पताल ले जाये डाक्टर से कहे कि डाक्टर साहब ! मेरा सर्वस्व ले लीजिये पर इसे अच्छा कर दीजिये। तो बता कि उस व्यक्ति से तुझे द्वेष होगा या प्रेम ? बस कषायों से पीड़ित तू एक रोगी, यह दयालु-जीव निःस्वार्थसेवी, अपना सर्व पुण्य लुटा कर तुझे इस रोग से मुक्ति दिलाने आया है, तेरा सर्व भार अपने सर लेने आया है। भला द्वेष का पात्र है या करुणा का ?"

(४) और भी, "यदि घर में तेरे पुत्र को बौरान हो जाए और पागलपन में तेरे कान काटने लगे तो उस पर तुझे दया आयेगी या क्रोध ? बस ये बेचारे बौरान से ग्रसित जीव स्वयं इस रोग से पीड़ित हैं, स्वयं अपने द्वेष व क्रोध में जले जा रहे हैं। यदि रोग की तीव्रता से पागल होकर वे इस शरीर को काटते हैं तो करुणा के पात्र हैं या द्वेष के ? जरा तो विवेक कर और फिर ये बेचारे तुझे कुछ कह भी तो नहीं रहे हैं, इस खिलौने से खेलते हैं, बालक जो ठहरे, खिलौने ले-लेकर तोड़ना तो बालकों का स्वभाव ही है। यदि ये इस शरीर रूपी खिलौने को तोड़कर खेल खेल रहे हैं तो इनका दोष भी क्या है ? खेलने दे उन्हें, तुझे क्या ? तेरी शान्ति तो तेरे पास है, उसे तो छीनते नहीं बेचारे।" और इस प्रकार के अनेकों विचारों द्वारा क्रोध को जीत लेते हैं वे, प्रकट होने से पहले ही छिपा देते हैं वे। यह है योगी की उत्तम-क्षमा।

कदाचित् ऐसा अवसर आ जाए कि शिष्य मण्डली में से या अन्य सम्पर्क में आने वाले व्यक्तियों में से कोई एक शिष्य या व्यक्ति अनुकूल न चले, या आज्ञा का उलंघन करे, या अभिप्राय से विपरीत कार्य करने लगे, अथवा कोई

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जड़-पदार्थ अपने अनुकूल न बन सके तो कुछ-कुछ हृदय में सन्ताप-सा उत्पन्न होने लगता है। 'अरे ! मेरी आज्ञा से बाहर क्यों जा रहा है, जिस प्रकार मैं कहता हूँ उस प्रकार क्यों नहीं करता, अपनी मर्जी से क्यों करता है, इत्यादि। ऐसे अवसरों पर वह योगी इस प्रकार विचारने लगता है कि "भो चेतन ! कहाँ खो आया है आज बुद्धि ? किस को अपने अनुकूल चलाना चाहता है, अपने को या इसको ? इसको अपने आधीन करना तो तेरी सामर्थ्य से बाहर है। क्या पहले निर्णय नहीं कर चुका है (देखो ९.४)। विवेकी-ज्ञानी कहलाता है और फिर भी दूसरे को अपने अनुकूल करना चाहता है ? लोक में सर्व पदार्थ स्वतन्त्र हैं, तू उनको परतन्त्र बनाना चाहता है, अपने आधीन करना चाहता है ? तू भी स्वतन्त्र है, ये भी स्वतन्त्र हैं, जिस प्रकार चाहें करें, तू इन्हें रोकने वाला कौन, इन पर तेरा क्या अधिकार ? यदि अनुकूल ही परिणमाना है तो अपने को क्यों नहीं परिणमाता ? अपने ऊपर तो तेरा पूरा अधिकार है, क्यों अपनी शान्ति के प्रतिकूल इस क्रोध के आवेश में बहा जा रहा है ? रोक, रोक, बस अब इन परिणामों को रोक। इसके प्रति तो इतना ही कर्त्तव्य था कि इसके कल्याणार्थ कोई हित की बात इसे बता दे, सो तेरा कर्त्तव्य पूरा हुआ, अब यह चाहे जैसा करे इसकी मर्जी। लोक में अनन्तानन्त जीव राशि भरी पड़ी है, किस-किस को अपनी आज्ञा में चलायेगा।"

५. गृहस्थ को प्रेरणा—परम धैर्य के धारी अत्यन्त पराक्रमी उन योगियों को तो ऐसे विचार कभी-कभी कठिन अवसरों पर आते ही हैं, अतः उन्हें तो उत्कृष्ट क्षमा है ही, परन्तु यह क्षमा धारना उनका ही काम हो और आपका न हो ऐसा नहीं है। यथायोग्य अवसरों पर भले कुछ हीन रूप में सही, आपको भी इस अल्प गृहस्थ-अवस्था में, इसी प्रकार के विचारों द्वारा अपने क्रोध को दबाने का प्रयत्न करना चाहिए। किसी से भी द्वेष करना शान्ति के उपासक का काम नहीं और यदि आज भी किसी बड़े या छोटे से द्वेष है, तो इस उत्तम-क्षमा की बात को सुनकर उसको उगलने का प्रयत्न करना चाहिये, उसके साथ युद्ध करना चाहिये। आपको अपना कर्त्तव्य देखना है, दूसरों का नहीं। अतः 'वह तो बराबर मेरे साथ बुराई किये जा रहा है, मैं कैसे उसके प्रति माध्यस्थ हो जाऊँ, कैसे द्वेष त्याग दूं ?' इस प्रकार के विचारों को त्याग कर, अपने हित के लिए उपरोक्त क्षमा वर्द्धक परिणामोंके आश्रय पर, अपने शत्रु को भी आज तुम्हें क्षमा कर देना योग्य है। मत विचारिये कि वह आपको क्षति पहुँचायेगा, बल्कि यह विचारिये कि आपका अपना द्वेष या मात्सर्य ही आपको क्षति पहुँचा रहा है। प्रति वर्ष क्षमावणी का दिन मनाते हैं, 'क्षमा-क्षमा सब गहो रे भाई' का राग अलापते हैं, मानो दूसरों को सुनाते हैं। प्रभो ! स्वयं सुनने का प्रयत्न कीजिये, दूसरे को सुनाने का नहीं। दूसरा कुछ भी करे, उधर मत देखिये, किन्तु देखिये यह कि आप क्या करते हैं। शान्ति का मार्ग लौकिक दृष्टि से विपरीत है, उस दृष्टि में इसका रहस्य आ नहीं सकता। साधारण जन क्या जानें इसकी महिमा ?

चित्त की शान्ति ही उत्तम क्षमा है। शान्त सरोवर में पड़े चन्द्रबिम्ब की भाँति इसी में तत्त्व प्रकाशित होता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३५. उत्तम-मार्दव

१. अभिमान, २. आत्म सम्बोधन, ३. लोकेषणा दमन।

शान्ति-सरोवर भगवान आत्मा ! आज अत्यन्त सौभाग्यवश शान्ति-सागर-वीतरागी गुरुओं की शरण को प्राप्त होकर भी यदि कषायोद्रेक में जलता रहा, तो कोई लाभ न होगा इस महान व दुर्लभ अवसर से, अतः अब जिस किस प्रकार भी अन्तर-दाहोत्पादक इन कषायों से युद्ध कर, उत्तम-मार्दव से आक्रमण कर। घबरा नहीं, इस हथियार का सामना करने की शक्ति इन कषायों में नहीं है। इसकी एक झलक मात्र से यह गीदड़-टोली दुम दबा कर भागती दिखाई देगी। यह हथियार तेरे पास न हो, ऐसा भी नहीं है। तेरी आयुध-शाला में ऐसे हथियारों की कमी नहीं।

१. अभिमान—मार्दव अर्थात् मृदु-परिणाम, कोमल परिणाम, अभिमान के विरोधी परिणाम। आज तक पर-पदार्थों को अपना मानता हुआ कुल, जाति, रूप, धन, बल, ऐश्वर्य, तप, ज्ञान आदि की महिमा को गिनता हुआ, इनमें से रस लेता हुआ, इनके कारण ही अपनी महानता मानकर गर्व करता हुआ चला आ रहा है। झूठा है यह गर्व, जिसका कोई मूल्य नहीं, कोई आधार नहीं। इन पर-पदार्थों से अपनी महिमा व बड़प्पन की भिक्षा मांगने में ही गर्व करता आ रहा है। "इनका मैं स्वामी हूँ, इनका मैं करता हूँ, मेरे द्वारा ही इनका काम चल रहा है, ये सब मेरे लिए ही काम कर रहे हैं, ये सब मुझमें से ही अपना बल प्राप्त कर रहे हैं, यदि मैं न हूँ तो ये किसी काम के नहीं, मेरे आधार पर ही टिके हैं, इनको मैं भोगता हूँ, ये मेरा बड़ा काम साधते हैं, इनके-द्वारा ही मेरी महिमा हो रही है, इनके लिए ही मैं इतना परिश्रम कर रहा हूँ, इनमें से ही मुझे आनन्द मिलता है, इनके आधार पर ही मेरी सर्व महत्ता है, लोग मेरी इस विभूति को देखकर नत-मस्तक हो जाते हैं, मेरी महिमा का बखान करते हैं।" इस प्रकार की झूठी कल्पनाओं के अन्धकार में आज तू अपनी वास्तविक महिमा को भूल बैठा है, अपनी विभूति को न गिनकर भिखारी बन बैठा है। अपने कुल को, अपनी जाति को, अपने रूप को, अपने धन को, अपने बल को, अपने ऐश्वर्य को, अपने तप को, अपने ज्ञान को तथा अन्य अनेकों बातों को बिल्कुल भुला बैठा है। अपनी इस महिमा की अवहेलना करके दूसरों की महिमा में अपनी महिमा मानना अनन्ता अभिमान है, अपनी महिमा के प्रति अत्यन्त कठोरता है। एक दृष्टि भी अन्तर की ओर जाए तो अपनी विभूति के दर्शन हो जायें, अपनी महिमा का भान हो जाए, उसके प्रति बहुमान प्रकट हो जाए, पर द्रव्यों का अभिमान हट जाए, निज का अभिमान हो जाए, अपनी पूर्ण महिमा का साम्राज्य प्राप्त हो जाए, और भिखारीपना जाता रहे।

लोक में भी दो प्रकार के अभिमान कहने में आते हैं—एक स्वाभिमान और दूसरा सामान्य अभिमान अर्थात् पराभिमान। 'मैं उत्तम कुल का हूँ क्योंकि मेरा पिता बड़ा आदमी है इत्यादि' तो पराभिमान है, क्योंकि पिता और पर की महिमा में झूठा अपनत्व किया जा रहा है। परन्तु 'मेरा यह कर्त्तव्य नहीं, क्योंकि मेरा कुल ऊँचा है' यह है स्वाभिमान क्योंकि अपने कर्त्तव्य की महिमा का मूल्याङ्कन करने में आ रहा है। पराभिमान निन्दनीय और स्वाभिमान प्रशंसनीय गिनने में आता है। इसलिए वास्तविक अभिमान करना है, तो स्वाभिमान उत्पन्न कर अर्थात् निज चैतन्य विलास के प्रति महिमा उत्पन्न कर, जितनी चाहे कर।

२. आत्म-सम्बोधन—(१) "मेरा कुल बहुत ऊँचा है, मैं सूर्यवंशी हूँ, वह महान वंश जिसमें भगवान आदि-ब्रह्मा ऋषभदेव ने अवतार लिया, जिसमें षट्खण्ड-स्वामी भरत चक्रवर्ती उत्पन्न हुए, जिसमें यम-विजेता महान् तपस्वी बाहुबलि उत्पन्न हुए। आप सबको मेरा सम्मान करना उचित है क्योंकि मैं भगवान की सन्तान हूँ और आप सबसे ऊँचा हूँ।" अरे रे ! क्यों अपने कुल के प्रति इतना कठोर हो गया है तू ? तनिक तो दया कर, बिल्कुल रंक बन गया है, भगवान की सन्तान होने का गर्व करता है पर भगवान होने का नहीं ? चिदानन्द-ब्रह्म, पूर्ण परमेश्वर, स्वयं भगवान होकर किसकी महिमा, किसकी उच्चता स्वीकार कराने चला है। साक्षात् भिखारी बनकर भगवान के कुल को लांछन लगाने वाले ओ चेतन ! तू उच्च-कुलीन है कि नीच कुलीन ? स्वयं तू ऋषभ है, षट्खण्ड का ही नहीं त्रिलोक का

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अधिपति है, सर्व विभावों का विनाश करने की शक्ति रखने वाला तू स्वयं यम है, इन अल्पमात्र मनुष्यों द्वारा ही नहीं त्रिलोक द्वारा वन्द्य है। अपनी महिमा के प्रति गर्व कर, कठोरता छोड़, उसका और अधिक अपमान मत कर, स्वयं अपना सम्मान करना सीख, तब बनेगा वास्तव में उच्चकुलीन।

(२) "मेरी जाति बहुत ऊँची है, मेरे मामा की आज्ञा अनेकों देश स्वीकार कर रहे हैं, मेरे नाना इतने दानी थे, मेरी माता बड़ी विदुषी है।" अरे ! क्या हुआ यदि तेरी माता, तेरे मामा और नाना बड़े थे ? तुझे इनसे क्या ? तू तो यह देख कि तू कौन है ? उन्होंने बड़े कार्य किए तो वे बड़े कहलाये, तू बड़ा कार्य करेगा तो तू बड़ा कहलाएगा। नीच काम करने से कौन ऊँचा बनता है। अपने प्रभुत्व को ठुकरा कर नाना मामा से अपने प्रभुत्व की भिक्षा मांगने वाले भी चेतन ! तनिक विचार तो कर, कि तू महान है कि भिखारी ? भगवती सरस्वती जिसकी माता हो, वह तुच्छ बुद्धि वाले प्राणियों को अपनी माता बनाए, आश्चर्य है। सहज आनन्द जिसका मामा हो वह चिन्ता की चिताओं में जलने वाले इन मनुष्यों को मामा समझे, खेद है। भगवन् ! आँख खोल, अपनी ज्ञान-चेतनावली जाति को पहिचान, उसके प्रति बहुमान उत्पन्न कर, कठोरता छोड़। चेतन-जाति पर गर्व कर, जितना चाहे कर।

(३) "मैं बड़ा रूपवान हूँ। गली में मुझे जाता देखकर स्त्रियाँ अपना सर्व काम छोड़ बरामदों में आकर खड़ी हो जाती हैं राह चलने वाले पथिक रुक जाते हैं।" अरे रे ! कौन से रूप की बात करता है ? इस चमड़े के रूप की बात ? तब तो अवश्य ही तू बड़ा रूपवान है। ले एक बार इस दर्पण में मुँह देख ले, इसमें १० साल आगे का रूप दिखाई दे जायेगा तुझे। देख कितना सुन्दर है यह ? क्यों डर क्यों गया ? तेरा ही तो रूप है जिस पर गर्व करता था तू ? जरा मक्खी के पंख समान पतली सी इस झिल्ली को उतार कर देख इसका रूप। क्यों कैसा लगता है ? जरा शौच-गृह में जाकर देख इसका रूप, कैसा मनभाता है ? भोले प्राणी ! अपने सच्चिदानन्द रूप को भूलकर इस चमड़े पर लुभाते क्या लज्जा नहीं आती ? आ यदि अपना सौन्दर्य देखना है तो देख यहाँ, जहाँ विश्व-मोहिनी यह शान्ति सुन्दरी तेरे गले में वरमाला डालने को तैयार खड़ी है। इसका अपमान करके तू कैसे अपने को रूपवान कह सकेगा ? प्रभु ! अन्य ओर से दृष्टि हटा, कठोरता तज, इस सुन्दरी को मृदुता से स्पर्श कर यह है तेरा असली रूप। इस पर अभिमान कर, जितना चाहे कर।

(४) " मैं बड़ा धनवान हूँ, बड़े-बड़े व्यापारी मेरे द्वार पर मस्तक रगड़ते हैं, सारी मण्डी का भाव मेरे हाथ में है। मेरे पास ५०० गाँव हैं, यह देखो करोड़ों के हीरे जवाहरात, खजाना भरा पड़ा है, कुबेर भी शर्माता है मुझसे।" अरे रे ! किस पर गर्व करता है ? इस धूल पर जो कल ही न जाने कहाँ विलय हो जाने वाली है ? अपने वास्तविक चैतन्य धन को भूल कर इस धूल से अपने बड़प्पन की भिक्षा मांगते क्या लाज नहीं आती तुझे ? जाग चेतन ! जाग, इधर देख इस चैतन्य-कोष को जिसके एक कोने में सम्पूर्ण लोक समाया हुआ है, तीन लोक की सम्पूर्ण विभूति को एक समय में भोग लेने की शक्ति रखने वाले भो ज्ञानपुञ्ज ! इस अपने ज्ञान की महिमा को स्वीकार कर और धूल की महिमा की पकड़ को छोड़। इसी का नाम है मृदुता या मार्दव-परिणाम। उस आन्तरिक स्वानुभव-ज्ञान के प्रति बहुमान उत्पन्न कर, चाहे जितना कर।

(५) "मैं बड़ा बलवान हूँ, बड़े-बड़े पराक्रमी वीर मेरा लोहा मानते हैं, मेरे एक इशारे पर आज विश्व कांप उठता है, किस की शक्ति है कि मुझको जीत सके ?" अरे ! हंसी आती है तेरी बात पर, पामर कहीं का। 'मेरी माता वन्ध्या है' ऐसा सुनकर कौन न हंस पड़ेगा ? आश्चर्य है कि इस तनिक से अभिमान के द्वारा जीता हुआ तू विश्व-विजयी होने का दावा करता है। अपने भीतर तो झांककर देख कि काल की विकराल दाढ़ में बैठा हुआ तू भले हंस रहा हो, पर कितनी देर के लिए ? अभी जबड़ा बन्द हो जायेगा और तेरा यह अभिमान सर्व जगत पर स्वतः प्रकट होकर यह घोषणा करेगा कि कितना बली है तू। शर्म कर, काल की पहुँच से दूर अपने यथार्थ बल को भूलकर इस शरीर से मांगे हुए बल पर फूला फिरता है ? कहाँ गई तेरी बुद्धि ? इधर देख अपने अनन्तबल की ओर, जिस और आन्तरिक-शान्ति में तन्मयता पड़ी है, निज आनन्द का आधिपत्य पड़ा है और जहाँ लोक की सर्व विपदायें व चिन्तायें खड़ी रो रही हैं, एक बार प्रकट हो जाने पर जिसमें कभी कमी नहीं आती। उसकी महिमा जागृत कर, जिससे कि यथार्थ बली बन जाय तू। उस पर अभिमान कर, जितना चाहे कर।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(६) "मेरा बड़ा ऐश्वर्य है। २००० हाथी, ४००० घोड़े, १००० रथ, इतनी तोपें, बन्दूकें, हवाई जहाज़, टैंक, लाखों सेवक, मोटरें, कारखाने और न जाने क्या-क्या अला बला। मेरी आज्ञा सारे देश पर चलती है, मेरी आज्ञा के विरुद्ध कार्य करने का किसी में साहस नहीं। चारों ओर सेवक और सेविकाओं से सेवित इस राज्य-वैभव को भोगते हुए आज मेरे से इन्द्र भी शर्मा रहा है।" किस ऐश्वर्य को कहा जा रहा है प्रभो ! उसी को, जो एक बम पड़ जाने पर न जाने कहाँ चला जायेगा ? उसको जिसके लिए कि सम्भवत: रात को तुझे नींद भी नहीं आती ? किसने भ्रमा दिया है तुझे ? इतना भोला तो न बन कि चाहे जो ठगकर ले जाय, आंखों में डाले एक मुट्ठी मिर्च और सर्वस्व हर कर ले जाए ? अपने चित्प्रकाश को भूलने के कारण आज तेरी आँखें चुँधिया गई हैं इसकी झूठी आभा में। इधर देख आनन्द-नगर के अपने आधिपत्य को, जहाँ शान्ति तेरी दासी है, ज्ञान तेरा मन्त्री है, अनन्तबल तेरी सेना है, और सुख तेरा पुरोहित है। अभिमान करना है तो इसके प्रति कर, जितना चाहे कर।

(७) "मैं बड़ा तपस्वी हूँ। ज्येष्ठ की दोपहर में धूप के अन्दर पत्थर की तपती शिला पर घण्टों बैठा रहता हूँ, पोष-माघ की कड़कड़ाती ठण्डी रातों में श्मशान-भूमि में योग-साधता हूँ, महीनों-महीनों का उपवास, नीरस भोजन तथा अनेकों कठिन से कठिन तप करता हूँ, अनेकों परीषह सहता हूँ।" कैसा तप ? शरीर को तपाने का ? अरे रे ! प्रतीत होता है कि लोक के सन्ताप से सन्तप्त तेरा अन्तष्करण ही मानो भाप बनकर उड़ गया है। अपने को न तपाकर दूसरे को तपाने में कौन महिमा है ? भट्टी के सामने बैठा लुहार सारा दिन तपा करता है। क्या अन्तर है उसके तपने में तथा तेरे तपने में ? क्या भूल गया पूर्वोक्त सकल विवेक ? निज स्वरूप में प्रतपन करने का नाम तप है। उसमें ताप उत्पन्न कर, उसमें स्थिरता धार, शान्ति के सम्भोग में दृष्टि लगा, उसके प्रति महिमा जगा, उसके गुणगान गा, तब हो सकेगा तेरा माहात्म्य। अब काहे का माहात्म्य ?

"मैं बड़ा ऋद्धिधारी हूँ, मुझमें बड़ी-बड़ी शक्तियाँ हैं, चाहूँ तो एक दृष्टि से तुझको भस्म कर दूँ, शाप देकर राव से रंक कर दूं, आशीर्वाद देकर कृतकृत्य कर दूँ, आकाश में उड़ जाऊँ, मकड़ी के जाले पर से पाँव रख कर गुजर जाऊँ, बैठे-बैठे सुमेरु को स्पर्श कर दूं, मक्खी जैसा शरीर बना लूँ। कहाँ तक बखान करूँ अपनी महिमा का, अपने चमत्कारों का ?" अपने मुँह अपनी प्रशंसा करते क्या लाज नहीं आ रही है तुझे ? महिमा गान करने से पहले इतना तो समझ लेता कि किसकी महिमा का गान है यह, तेरी या इस चमड़े की ? चमड़े की महिमा से महिमावन्त कैसे कहला सकेगा तू ? इससे तो कुछ शिक्षा ले। यह आज लज्जित करने आया है तुझे अपने चमत्कार दिखाकर, कि देख योगी तेरे योग को मैं फीका किये देता हूँ। देख मेरी महिमा। क्या है तेरे पास जो इसके सामने रखे ? बता तो सही क्या उत्तर देगा कि क्या है तेरे पास ? बस पड़ गया सोच में ? अरे विश्व के अधिपति ! अपनी महिमा को भूलकर इसकी महिमा के चमत्कार दिखाने लगा ? फिर कैसे जानें कि तेरे पास क्या है ? इधर देख, तेरे पास वह कुछ है जिसके सामने इन बेचारी तुच्छ शक्तियों व ऋद्धियों की तो बात नहीं, तीर्थंकर पद भी तुच्छ है। देख उस शान्ति की ओर जिसमें पड़ी है अतीव तृप्ति, सन्तोष व साम्यता, जिसके वेदन के सामने अन्य सब कुछ तुच्छ है। इस शान्ति का अधिपति होकर अब इन तुच्छ शक्तियों की महिमा का बखान छोड़। इस शान्ति पर गर्व कर, जितना चाहे कर।

(८) "मैं बड़ा ज्ञानी हूँ, बड़े-बड़े तार्किकों को शास्त्रार्थ में परास्त कर दूं। मेरे तर्कों का उत्तर देने में कौन समर्थ है ? बड़े-बड़े शास्त्र मेरे हृदय में रखे हैं, जो बात कहो निकाल दूँ। अमुक आचार्य ने अमुक शास्त्र में, अमुक बात, अमुक पृष्ठ पर लिखी है, देख लो खोलकर। बड़े-बड़े पण्डित मेरा लोहा मानते हैं। दो-दो घण्टे धारावाही बोल सकता हूँ। तर्क, अलंकार, व्याकरण, ज्योतिष, सिद्धान्त, अध्यात्म और सर्वोपरि करणानुयोग की सूक्ष्म-कथनी मेरे लिए बच्चों का खेल है ?" किस ज्ञान पर अभिमान करता है चेतन ! अपने अतुल ज्ञान प्रकाश को देख जिसमें तीन लोक युगपत् प्रत्यक्ष भासते हैं। इन मात्र दो चार शब्दों के तुच्छ ज्ञान का क्या मूल्य है तेरे अतुल प्रकाश के सामने ? यदि शान्ति के प्रति बहुमान जागृत न हुआ तो यह शास्त्र-ज्ञान काम भी क्या आयेगा ? केवल गधे पर पुस्तकों के भार जैसा है। यह तो देख कि इन शब्दों को याद करने के लिए तुझे कितना परिश्रम करना पड़ रहा है ? हर समय की चिन्ता, कहीं भूल गया तो सर्व विद्वत्ता मिट्टी में मिल जायेगी। उस शाश्वत चैतन्य-विलास को क्यों नहीं देखता, जिसमें सहज ही सर्व

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विश्व समाया हुआ है, जिसे याद रखने को कोई प्रयत्न नहीं करना पड़ता, शान्ति में रमणता के अतिरिक्त जहाँ कुछ नहीं। उस अपने स्वाभाविक ज्ञान की महिमा करे तो त्रिलोकाधिपति बन जाए। इसलिए प्रभो ! अब विवेक धार कर इस शाब्दिक ज्ञान की महिमा को छोड़।

३. **लोकेषणा-दमन**—मेरे मुख से निकले हुए इन दो चार शब्दों को सुन कर, मेरे गुरुदेव का साक्षात्कार न होने के कारण कुछ भ्रमवश, यह जो 'वाह वाह, कितना सुन्दर उपदेश दिया है। आज तक ऐसा नहीं सुना था' इस प्रकार के वाक्य आप अपने उद्‌गारों व भक्ति आदि के आवेश में कह रहे हैं, उनको सुनकर आज मेरे हृदय में क्या तूफान उठ रहा है ? मानो मुझे उड़ा ले जाने का प्रयत्न कर रहा है, कहीं मेरी शान्ति से दूर। नहीं नहीं भगवन् ! मैं एक क्षण को भी इसका विरह सहन नहीं कर सकता। रक्षा कीजए प्रभु ! रक्षा कीजिये, इस महान भयानक लोकेषणा राक्षसी से मेरी रक्षा कीजिये, इस ख्याति की चाह से मुझे बचाइये। मुझ पामर तुच्छ बुद्धि में क्या शक्ति है कि एक शब्द भी कह सकूँ। तुतलाकर बोलना भी जिसने अभी सीखा नहीं है, वह अभिमान करे प्रवचन करने का ? धिक्कार है मुझे जो आपके प्रवचन को, आपकी मिष्ट वाणी को अपनी बताऊँ। यह चोरी मुझसे न हो सकेगी भगवन् ! मैं श्रोता हूँ वक्ता नहीं।

इन दो-चार पच्चीस-पचास व्यक्तियों के मुख से निकले इन दो-चार शब्दों से ही गद्‌गद् हुआ जा रहा है तू। क्या विचारा है कभी तूने कि क्या रस आया इनमें से ? इन शब्दों में है क्या ? यदि सत्य होते तो भी भले कुछ मान लेता, पर इनमें तो सत्यता भी भासती नहीं। फिर भी झूठा अहंकार क्यों ? कभी विचारा है तूने, कि इस लोक का तू कितने वाँ भाग है ? जहाँ अनन्तानन्त जीव बसते हों, वहाँ तेरी कौन गिनती ? जगत का एक छोटा सा कीट, और इसके अतिरिक्त मूल्य ही क्या है तेरा ? बीस-पच्चीस व्यक्ति जान गये और मान बैठा कि सर्व लोक में ख्याति फैल गयी है मेरी। तुच्छ बुद्धि जो ठहरा, कूपमण्डूक जो ठहरा। जरा विश्व में दृष्टि पसारकर तो देख कि कौन जानता है तुझे ? दूर की तो बात नहीं, ये तेरे प्रदेशों में स्थित जो अनेकों कीटाणु भरे पड़े हैं, इन्हीं से जाकर पूछ कि क्या वे जानते हैं तुझे ? उन बेचारों को भी छोड़, स्वयं अपने से तो पूछकर देख कि क्या तू भी जानता है स्वयं को-? जानता होता तो यह अभिमान न होता, इन शब्दों की महिमा न गिनता, अपने अन्तरङ्ग चैतन्य विलास पर ही गर्व करता। यदि बाह्य की ही कुछ बातों के कारण अपने को ऊँचा और दूसरे को नीचा समझता है तो एक बार अपने और दूसरे के जीवन को जिस प्रकार मैं कहता हूँ उस प्रकार देख। जीवन में बीत गई भूतकालीन अनेक भवों की अवस्थायें, वर्तमान की एक अवस्था तथा भविष्यत् में होने वाली अनेक भवों की अवस्थायें; आपका पूर्ण जीवन इन अवस्थाओं से भरा पड़ा है और उस दूसरे का जीवन भी। दोनों के जीवनों की पूर्ण अवस्थाओं को डोर में पिरोकर पृथक्-पृथक् दो मालायें तैयार कर। इन दोनों मालाओं को अपने सामने खूंटी पर लटकाकर देख कि कौन सी बड़ी है और कौन सी छोटी, कौन सी अच्छी है और कौन सी बुरी ? बड़ी-छोटी तो नहीं क्योंकि दोनों की अवस्थायें बराबर हैं। अच्छी बुरी भी नहीं, क्योंकि दोनों ही हारों में सुन्दर-असुन्दर अच्छी-बुरी, पापात्मक-पुण्यात्मक अवस्थाऐं भरी पड़ी हैं, भले आगे पीछे पड़ी हों। आगे-पीछे हो जाने मात्र से हार अच्छे और बुरे कहे नहीं जा सकते। फिर किस प्रकार अपने को ऊँचा दूसरे को नीचा मानता है ?

और इस प्रकार वह योगी अनेकों विचारों के प्रवाह में बहा देता है इस दुष्ट अभिमान को। उतने उत्कृष्ट रूप में न सही, परन्तु क्या थोड़े बहुत रूप में भी तू अपने जीवन में यह बात नहीं उतार सकता ? इस राक्षस से अपनी रक्षा के लिए, मेरे लिए नहीं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३६. उत्तम-आर्जव

१. सामान्य परिचय; २. गृहस्थ की कुटिलता; ३. साधु की कुटिलता; ४. आत्म-सम्बोधन।

१. सामान्य परिचय—हे सरल-स्वभावी भगवान आत्मा ! धन, शरीर व भोगादि में इष्टानिष्ट बुद्धि के कारण अनेकों खोटे अभिप्राय धर-धर के मैं सदा तेरा अनिष्ट करता चला आया हूँ। मुझे क्षमा कर दीजिए भगवन् ! अब तक मैं अज्ञानी था, हिताहित से बिल्कुल अनभिज्ञ। आज उत्तम-आर्जव-धर्मयुक्त परमवीतरागी गुरुवर से आर्जव-धर्म का उपदेश सुनकर मेरी आँखें खुल गई हैं। आर्जव-धर्म का प्रकरण है। 'ऋजुभावं आर्जवं' ऋजु अर्थात् सीधा, सरल। आर्जव कहिये सरल भाव, वक्रता रहित, मायाचार रहित परिणति। जैसा अन्तरंग अर्थात् मन में करने का अभिप्राय हो वैसा ही बाहर में भी करना अर्थात् वचन व काय से भी वैसा ही कहना या करना। अन्तरंग व बाह्य क्रिया में अन्तर न होने का नाम ही है सरलता तथा अन्तरंग अभिप्राय में कुछ और रखते हुए बाहर में कुछ और ढंग से बोलना या करना है वक्रता। व्यक्ति का व्यक्तित्व वास्तव में वह नहीं है जो कि वह दूसरों को दिखाने का प्रयत्न करता है प्रत्युत वह है जो कि वह स्वयं जानता है। अनेकविध लोक-दिखावी प्रवृत्तियों के द्वारा अपने को उससे अधिक दिखाने का प्रयत्न दम्भाचरण कहलाता है, जो शान्ति-मार्ग का सबसे बड़ा शत्रु है, इसलिए कि ऐसा करने वाले की दृष्टि में सदा दूसरों को प्रभावित करने की प्रधानता रहती है, जिसके कारण उसे अपने भीतर झांककर देखने का अवसर ही नहीं मिलता। वह बड़े से बड़ा तप करता है, सभी धार्मिक क्रियायें करता है और सम्भवतः सत्य साधक की अपेक्षा अधिक करता है, परन्तु लोक दिखावा मात्र होने के कारण उनका न अपने लिये कुछ मूल्य है और न किसी अन्य के लिये।

'सत्यं ऋतं वृहत्'। सत्य तथा ऋत इन दो गुणों से युक्त व्यक्तित्व वृहत् होता है महान होता है। दोनों शब्द यद्यपि एकार्थवाची हैं। परन्तु महान अन्तर है इन दोनों के रहस्यार्थ में। जैसी देखी-सुनी हो वैसी कह देना सत्य है और बालकवत् स्वार्थ रहित सहज रूप से कहना ऋत है। ऋत में सत्य गर्भित है परन्तु सत्य में ऋत नहीं। सरल चित्त बालक के द्वारा सहज रूप से कहा गया वचन कभी असत्य नहीं हो सकता परन्तु आपके द्वारा बोले गए सत्य वचन के लिए यह आवश्यक नहीं कि वह ऋत अर्थात् सरल भी हो। इसी प्रकार क्रिया भी ऋजुभाव से की गई बालक की सब क्रियायें सत्य होती हैं परन्तु आपके द्वाराकी गई सत्य क्रिया के लिए यह आवश्यक नहीं कि वह ऋत अर्थात् सरल भी हो। स्वार्थ-पूर्ति के अर्थ भी अनेकों बार सत्य बोलने में आता है। गृहस्थ हो अथवा साधु दोनों के ही वचनों में तथा क्रियाओं में इस प्रकार की विषमता होना सम्भव है। ऐसा प्रबल है इस कुटिल माया-रानी का प्रभाव।

२. गृहस्थ की कुटिलता—हर वचन या क्रिया की परीक्षा अभिप्राय पर से होती है। वचन, क्रिया व अभिप्राय में अन्तर है तो वे संवर रूप नहीं हो सकते, केवल आस्रवरूप होंगे, क्योंकि विकल्प-दमन का प्रयोजन उन पर से सिद्ध नहीं होगा। अपने गृहस्थ-जीवन में तो मैं रात-दिन इस प्रकार की मायापूर्ण क्रियाओं का अनुभव करता ही हूँ, परन्तु धार्मिक क्षेत्र में भी मैं बहुत कुछ क्रियायें ऐसी करता हूँ जो माया के रङ्ग में रङ्गी होती हैं, केवल लोक-दिखावे के लिए होने के कारण दम्भ मात्र होती हैं।

१. किसी अपने साथी को कदाचित् मैं बड़े प्रेमपूर्वक सिनेमा दिखाने का निमन्त्रण देता हूँ इस अभिप्राय से कि यदि वह अधिक पढ़ता रहा तो कहीं ऐसा न हो कि परीक्षा में मुझ से अधिक नम्बर ले जाये। २. अपनी माता के साथ मेरे घर पर आये हुए किसी बालक को मैं सुन्दर-सुन्दर खिलौने व मिठाई लाकर देता हूँ इस अभिप्राय से कि इसकी माता यह विश्वास कर ले कि मुझे उसके व उसके बालक के साथ बड़ी सहानुभूति तथा प्रेम है। ३. अपने मालिक की दुकान पर मैं बड़े परिश्रम से दिन-रात एक करके काम करता हूँ इसलिए कि धीरे-धीरे इसकी दुकान से नित्य प्रति जो चोरी करता हूँ, वह प्रकट न हो जाये। ४. किसी व्यक्ति को बड़ी सहानुभूतिपूर्वक 'यह वस्तु तुम्हारे योग्य है इसलिए ले आया हूँ' ऐसा कहता हुआ सुना जाता है। केवल इस अभिप्राय से कि जिस-किस प्रकार यह इसे खरीद ले, पीछे इसके काम आये या न आये।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यह तो है लौकिक क्षेत्र में मेरा दम्भाचार। लीजिये अब धार्मिक क्षेत्र में भी देखिये। १. अन्तरंग में शरीर को ही पोषण करने का या भोगों में से ही रस लेने का अभिप्राय रखते हुए बराबर बाहर में यह कहता रहता हूँ कि 'शरीर मेरा नहीं है, मुझसे पृथक् अन्य द्रव्य है, भोगों में सुख नहीं है, मुझे तो शान्ति चाहिए।' २. खूब सुरताल से तन्मयता के साथ भगवान की पूजा करता हूँ, इस अभिप्राय से कि लोग मुझे धर्मात्मा समझें, मेरे पुत्र का नाता किसी बड़े घर में हो जाए। ३. भगवान की प्रतिमा स्थापित कराता हूँ, मन्दिर बनवाता हूँ, इस अभिप्राय से कि अधिक धन-लाभ हो। ४. खूब दान देता हूँ, इस अभिप्राय से कि लोक में प्रतिष्ठा हो, लोग मुझे धनिक समझें, कोई आशीर्वाद दे दे या भोग-भूमि में चला जाऊँ। ५. सच बोलता हूँ इसलिए कि लोग मुझे सत्यवादी मानकर मेरा सम्मान करें। ६. अति नम्र भाव से किसी का सच्चा-सच्चा दोष कह देता हूँ इसलिए कि उसके प्रति अपना द्वेष निकालने का अवसर मिल जाए। इत्यादि अनेक प्रकार से अभिप्राय की कुटिलता के कारण अमृत में विष घोलकर, अपने हाथों अपने पाँव में कुल्हाड़ी मारा करता हूँ मैं; अपने हाथों अपने घर में आग लगाया करता हूँ मैं, अपने हाथों व्याकुलता के साधन जुटाया करता हूँ मैं और मजे की बात यह कि शान्त होना चाहता हूँ, धर्म करना चाहता हूँ।

३. साधु की कुटिलता—गृहस्थ दशा तक ही इस कुटिल-भाव का बल चलता हो, सो नहीं। यथायोग्य रूप में भूमिकानुसार उत्कृष्ट साधु की वीतराग दशा में भी यह कुटिलता अपना जोर चलाकर उसे डिगाने का प्रयत्न किया करती है। परन्तु वास्तव में पग-पग पर सावधानी रखने वाले, कुशल सारथी के रथ में बैठे, कुशल वैद्य के निरीक्षण में रहने वाले, उन पर भले वह क्षणिक प्रभाव डालने में समर्थ हो जाए, पर उन्हें उनके पद से नहीं डिगा सकती। इस कुटिलता से अपनी रक्षा करने के लिए ही किसी योग्य आचार्य की अध्यक्षता में रहकर साधुजन सन्तुष्ट होते हैं, और वे आचार्य भी मातावत् उनकी रक्षा करते हैं, पग-पग पर उन्हें दोषों के प्रति सावधान करते हुए उनके मार्ग को निष्कण्टक बनाते हैं। तथापि प्रमादवश यदि कदाचित् कोई दोष बन जावे तो अत्यन्त करुणा पूर्वक एक कुशल वैद्य की भाँति यथोचित प्रायश्चित्त रूप औषधि देकर तुरन्त उसका शमन करते हैं। (दे० ४०/३.१) फिर भी देखो इस अनृत माया की कुटिलता कि—

१. ऐसे कल्याणकारी प्रायश्चित्त से डरकर कदाचित् आचार्य से अपनी दुर्बलता बताते हुए अर्थात् 'कमजोर हूँ, खाना नहीं पचता है, पीछे कई दिन तक ज्वर रह चुका है, इत्यादि' अनेक प्रकार की बातें बनाकर, साधु अपना दोष गुरु के सामने प्रकट करता है, इस अभिप्राय से कि किसी प्रकार प्रायश्चित न मिले और मिले तो कम मिले। २. 'मेरे दोष कोई जानने न पावे', इस अभिप्राय से गुरु से प्रश्न करता है कि यदि ऐसा दोष किसी से बन जावे तो उसका क्या प्रायश्चित्त है ? ३. जो दोष दूसरों पर प्रकट हो चुके हैं, उन्हें तो गुरु से कह देता है परन्तु अन्तरङ्ग के अन्य दोषों को नहीं, इस अभिप्राय से कि ये दोष तो सब जान ही गये हैं, कह कर अपनी बड़ाई ही कर ले। ४. और कभी-कभी सकल दोषों को ज्यों का त्यों कह देता है, उनके-द्वारा दिया गया प्रायश्चित्त भी हर्ष से स्वीकार कर लेता है, उसका पालन भी ठीक रीति से करता है, परन्तु इस अभिप्राय से कि संघ पर मेरी सरलता की छाप पड़ जाये। ५. नमक का त्याग कर देता है, इस अभिप्राय से कि खूब खीर, हलवा, मिठाई व पूड़ी खाने को मिले। ६. अन्न का त्याग कर देता है, इस अभिप्राय से कि खूब मेवा व फल खाने को मिले।

४. आत्म-सम्बोधन—इस प्रकार अनेक कुटिल अभिप्रायों को रखकर ऊँची भूमिका में भी कदाचित् कुछ क्रियायें हो जाती हैं। उस समय वे परम योगेश्वर विचार करते हैं कि "भो चेतन ! तेरा स्वरूप तो शान्ति है। दूसरे के लिए इसका विनाश क्यो करता है ? शरीर की रक्षा के लिए शान्ति को क्यों कुएँ में धकेलता है ? गुरुदेव तो करुणा-बुद्धि से तेरा दोष निवारण करने के लिए तुझे यह प्रायश्चित्त दे रहे हैं, द्वेषवश नहीं। इसमें तो तुझे इष्टता होनी चाहिए न कि अनिष्टता, इसके ग्रहण में तो उल्लास होना चाहिए न कि भय। प्रायश्चित्त-दाता गुरुवर के प्रति तो तुझे बहुमान होना चाहिए कि निःस्वार्थ ही केवल करुणा-बुद्धि से प्रायश्चित्त रूप औषधि प्रदान करके वे तेरे ऊपर महान अनुग्रह कर रहे हैं। क्यों दोषों को छिपाने का प्रयत्न करता है ? इससे तो तेरी ही हानि है। ये दोष एक दिन संस्कार बन बैठेंगे, जिन संस्कारों का कि विच्छेद तू बराबर करता चला आ रहा है। सब किया कराया चौपट हो जायेगा।"

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

और "यदि कोई तेरे दोष जान ही गया तो कौन बुरा हुआ ? वह तुझे क्या बाधा पहुँचा सकेगा ? थोड़ी निन्दा ही तो करेगा ? तब तो अच्छा ही होगा, संस्कारों की शक्ति और क्षीण हो जायेगी। और तुझे चाहिए ही क्या ? तेरा मनचाहा तुझे देता है, उससे भय खाने की क्या बात ? वह तो तेरा हितैषी ही है। फिर अनहुए दोष तो नहीं कहता, झूठ तो नहीं बोलता, तूने जो दोष बताये हैं, वही तो कहता है। इसमें कौन बुराई है ? वह तो उन दोषों को पुनः-पुनः कहकर तुझे सावधान करने का प्रयत्न कर रहा है कि तुझसे ऐसा दोष बना था, अब न बनने पावे। बता क्या बुराई हुई ? महान उपकार किया। इस उपकार से भय खाना ठीक नहीं, जो कहना है स्पष्ट कह डाल, निर्भय होकर कह, छिपा मत।" इस प्रकार विचार करता हुआ वह अपने मन को सम्बोधता है।

"अरे ! आत्मख्याति-स्वरूप भगवान ! इस बाहर की ख्याति पर क्या जाता है ? दो दिन में विनश जाएगी। छोड़ जाएगा यह शरीर तो कौन सुनेगा इसे ? दो दिन के लिए क्या रीझता है इस पर ? और फिर तेरी ख्याति तो शान्ति में रस लेने से है न कि इन शब्दों में ? भव-भव में ख्याति देने वाली, तीन-लोक में ख्याति फैलाने वाली, अपनी सहज ख्याति की अवहेलना मत कर। इस बाह्य ख्याति के कारण एक दोष पर दूसरा दोष मत लगा, सदा से दोषों का पुञ्ज बना आ रहा है, अब इनमें और वृद्धि मत कर। निज-शान्ति की ओर देख, उसकी महिमा का गान कर। तनिक सी इस ख्याति की भावना के लिए प्रायश्चित्त से मत घबरा, यह तेरी शान्ति की रक्षा करेगा।"

"अरे अलौकिक स्वाद के रसिक भगवन् ! भगवान होकर भी इन रंक जीवों से मिठाई, फल, मेवा, खीर आदि की भिक्षा मांगते क्या लाज नहीं आती तुझे ? जिह्वा इन्द्रिय को काबू में करने के प्रयोजन से त्याग किया जाता है न कि उसे पुष्ट करने के लिए ? अपने इस कुटिल अभिप्राय से डर। चार आने का अन्न छोड़ कर दस रुपये का भोजन करे और साधु बनना चाहे, शान्ति का उपासक बनना चाहे, यह कैसे सम्भव है ? यदि अन्तरङ्ग स्वाद का बहुमान है तो क्यों इस धूल में स्वाद खोजता हुआ अपने को ठग रहा है ? यह देख उस ओर, परदे की ओट में कौन खड़ी मुस्करा रही है, मानो तेरी खिल्ली उड़ा रही है, "चला है साधु बनने, मुझे जीतने, पता नहीं मेरा नाम माया है, जिसने सब जग खाया है ? अरे ! तुझ बेचारे में कहाँ सामर्थ्य कि मेरी ओर आँख उठाकर भी देख सके ? रंक कहीं का।" प्रशंसा के शब्द सुनाई देते हैं, पर इन शब्दों को नहीं सुनता। भूल गया अपने पराक्रम को ? उठ, जाग, गरजना कर, 'मुझे शान्ति चाहिए और कुछ नहीं' फिर देख कहाँ जाती है यह कुटिला माया, और कहाँ जाती है इसकी हंसी।"

इस प्रकार के अनेकों विचारों-द्वारा अन्तरङ्ग के उस सूक्ष्म अभिप्राय को काट फैंकता है वह योगी ; तथा परमधाम, शान्ति-धाम को प्राप्त कर, बन जाता है वही जिस लक्ष्य को लेकर कि चला था वह। उत्कृष्ट रूप से न सही पर क्या आँशिक रूप से भी मैं अपने लौकिक व धार्मिक जीवन में आने वाली इस माया को, उन विचारों के द्वारा क्षति नहीं पहुँचा सकता ? इसमें मेरा ही तो हित है, गुरुदेव का तो नहीं ? यह है कुछ पुरुषार्थ, कुछ भावनाएँ जिनसे कि आर्जव-धर्म की रक्षा की जा सकती है, माया परिणति से तथा उसकी वासनाओं से बचा जा सकता है। इसी विषय का कुछ विस्तार आगे 'उत्तम-सत्य' के अन्तर्गत भी किया जाने वाला है। ❑

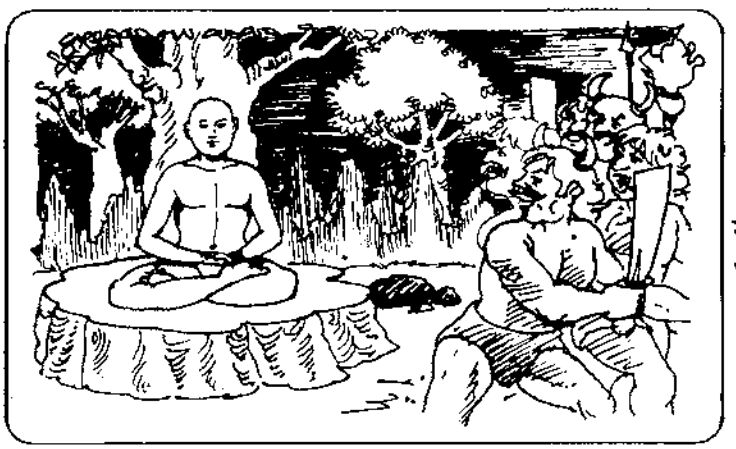

ज्ञानी बहार में सोते हुए भी अन्तरंग में सदा जागते हैं। संस्कार सेना उनसे भय खाकर भाग जाती है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३७. उत्तम-शौच

१. सच्चा शौच; २. गंगा तीर्थ; ३. लोभ पाप का बाप।

१. सच्चा शौच—साम्यरस-पूर्ण पावन गङ्गा में स्नान करके परम पावनता को प्राप्त हे परम पावन गुरुदेव ! मुझे भी पावनता प्रदान कीजिए। आज तक पावन अपावन के विवेक से हीन मैं अज्ञानवश भोग-सामग्री रूप मल में हाथ डाल डालकर बालकवत् इसको चाटता रहा, इसमें से स्वाद लेता रहा, इस ही में अपना हित व कल्याण खोजता रहा। आज आपकी शरण में आ जाने पर भी, अपने वास्तविक स्वाद का भान हो जाने पर भी, अपने अशुचि हाथ मुँह धोकर यदि शुचिता उत्पन्न न करूँ, आपके जीवन में प्रवाहित इस साम्यरस गङ्गा में स्नान करके पवित्र न बनूँ, तो कब बनूँगा ? सदा ही विष्टा का कीड़ा बना रहूँगा। उत्तम-शौच धर्म का प्रकरण है।

'शरीर तथा इसके भौग्य जड़ पदार्थों को, पुत्र मित्रादि चेतन पदार्थों को तथा अन्य सर्व पदार्थों को, यहाँ तक कि परमाणु मात्र को भी मैं अपने काम में ले आऊं इसमें से स्वाद ले लूँ, उसे बुला लूं, उसे भेद दूँ, उसे मिला लूँ, सम्बन्ध-विच्छेद कर दूँ बना दूँ या बिगाड़ दूँ' इस प्रकार की अहंकार-बुद्धि अशुचि है, अपवित्र है। 'सर्व पदार्थ मेरे इष्ट हैं कि अनिष्ट हैं, मेरे लिए उपयोगी हैं कि अनुपयोगी हैं, मेरे लिए हित रूप हैं कि अहित रूप हैं' इस प्रकार के रागद्वेषात्मक द्वन्द्व ही वह अशुचि है जिसको धोने की सुध आज तक प्राप्त नहीं हुई। निज महिमा की अवहेलना करता हुआ सदा उनकी महिमा गाता आया। महा अशुचि बना हुआ चलते-चलते, भटकते-भटकते न जाने किस सौभाग्य से आज इस साम्यरस-गङ्गा का पवित्र तीर मिला ? भगवन् ! एक डुबकी लगाने की आज्ञा दीजिये।

ऐसी डुबकी कि फिर बाहर निकलने की आवश्यकता न पड़े, उस नमक की डली की भाँति कि जिसे सागर की थाह लाने के लिए डोरे से बांधकर उसमें लटकाया गया हो। कुछ देर पश्चात् डोरा खींचकर उससे पूछे कि कितना गहरा है यह सागर, तो वहाँ कौन होगा जो इस बात का उत्तर देगा ? डोरा तो खाली पड़ा है, नमक की डली घुल चुकी है उसी समुद्र की थाह में। लेने गयी थी उस सागर की थाह और घुलमिल गयी है उसमें। इसी प्रकार जिन महिमा के प्रति बहुमान पूर्वक अन्तरंग में उछलते उस शान्त-महासागर में, एक बार डुबकी लगाकर लेने जाये उसकी थाह, तो कौन होगा वह जो बाहर आकर तुझे बतायेगा कि यह शान्ति इतनी महिमावन्त है ? स्वयं ही लय हो जायेगा उसमें। साम्यता, सरलता, वीतरागता, स्वतन्त्रता, शान्ति, सौन्दर्य व आन्तरिक महिमा, सब उसी गङ्गा के, उसी महा सागर के विभिन्न नाम हैं। इसमें स्नान करने से वास्तविक पवित्रता आती है, वह पवित्रता जो अक्षय है, ध्रुव है।

आन्तरिक मैल को धोना वास्तविक पवित्रता है, तेरी निज की पवित्रता है। शरीर की पवित्रता तेरी पवित्रता नहीं, वह झूठी है। इसको धोने से, मल-मलकर स्नान करने से, तेरा शौच नहीं। स्वयं उसका भी शौच नहीं, तेरा तो कहाँ से हो। अथाह सागर के जल से धोकर भी क्या पवित्र किया जाना सम्भव है इसे ? हरिद्वार में बहने वाली पवित्र गङ्गा की धार में इसे महीनों तक डुबाये रखने से भी क्या इसका पवित्र होना सम्भव है ? विष्टा से भरा घड़ा क्या ऊपर से धोने से पवित्र हो सकता है ? खूब साबुन मलिये, पर क्या इसमें शुचिता आनी सम्भव है ? यदि गङ्गा-जल में स्नान करने अथवा साबुन रगड़ने मात्र से इसकी पवित्रता स्वीकार करते हो तो जरा इतना तो बताओ कि जब स्नान करने के पश्चात् यह पवित्र हो चुके, तब यदि मैं एक लौटा गंगा-जल का डाल दूँ इस पर और उस जल को थाल में रोक लूँ तो क्या उस जल को आप पीने के लिए तैयार हो जायेंगे ? इसी प्रकार स्नान के पश्चात् शरीर पर दुबारा लगाये गये साबुन के झाग क्या अपने शरीर पर पोतने को तैयार हो जायेंगे ? नहीं, तो फिर कैसे कह सकते हो कि गंगा में स्नान करने से मैं पवित्र हो गया, मेरा शरीर पवित्र हो गया।

२. गंगा-तीर्थ—गङ्गा-स्नान से शुचिता-प्राप्ति होती है तब जबकि हृदय में धारण किया जाए उसके तट पर तपस्या करने वाले ऋषियों तथा परम ऋषियों की उस चरण-रज को, जो कि सदा से घुलती चली आ रही है इसके जल

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में। इसके स्नान का फल प्राप्त होता है तब जबकि ध्यान किया जाए उनके हृदय में स्थित उस महा समता-सागर का, जिसमें से उद्भव हुआ है इसका। इसके जल में स्नान करने का महत्त्व है तब जबकि स्मरण किया जाए उस महर्षि भगीरथ के पावन हृदय का जिसने लोक कल्याणार्थ आह्वानन किया था इसका। इससे मल-शोधन होता है तब जबकि चिन्तवन किया जाय श्मशानवासी उस परम वीतराग भगवान शिव का (ऋषभदेव का) जिसने अपने शीश पर धारण किया था साम्य रस की परमार्थ धारा को। ऐसा करे तो पवित्रता प्राप्त हो जाय तुझे, वह पवित्रता जो अन्तरंग मल को, रागद्वेषात्मक कषायों को तथा लोभ को धो डाले और जिसके कारण बाहर का यह शरीर भी पवित्र हो जाय, इतना पवित्र कि तब इस पर डाला हुआ जल पी जाना आप अपना सौभाग्य समझने लगें, उसे मस्तक पर चढ़ाकर अपने को आप धन्य मानने लगें। इससे पवित्रता मिलती है तब जबकि ध्यान किया जाय उस महातीर्थ का जहाँ से कि निकलकर चली आ रही है यह, जिसके कारण कि माना जा रहा है इसे पवित्र महातीर्थ, अर्थात् साम्यरस-भोगी भगवान शिवका, भगवान् ऋषभदेव का।

इसका जल सड़ता नहीं इसलिए पवित्र नहीं है यह, बल्कि इसलिए पवित्र है कि यह उस स्थान से चली आ रही है जहाँ कि इस युग के आदिब्रह्मा ऋषभदेव ने स्वयं यथार्थ शौच या आन्तरिक स्नान किया था अर्थात् जहाँ बैठकर तपश्चरण-द्वारा उस महायोगी ने अन्तर के रागद्वेष-प्रवर्धक लोभ का संहार किया था। हिमालय की ऊँची-ऊँची चोटियों से गिरती, पत्थरों से टकराती, कल-कल नाद करती, अनेकों छोटे-बड़े नालों में से प्रवाहित होती हरिद्वार में यह एक धार बन जाती है। यह मुझे उस परम पावन योगेश्वर के शुचि जीवन की याद दिलाती है, जिसने कैलाश पर सारा आन्तरिक मल धोकर इसी गंगा में बहा दिया था और इस प्रकार अपने जीवन में पूर्ण शान्ति उत्पन्न करके आदर्शभूत शान्ति-गंगा का जीवन में अवतरण किया था। यदि उस पवित्र जीवन की याद करके मैं भी अन्तर्मल शोधन के प्रति प्रवृत्ति करूँ और अन्तरंग अशुचि को उस महान योगीवत् धो डालूं, तभी कहलाया जा सकता है गंगा-तीर्थ का यथार्थ स्नान। शरीर-मात्र को धोने से पापों का शमन होना सम्भव नहीं, अन्तरंग उपयोग को शान्ति-स्रोत में डुबा देने से पाप के बाप लोभ का शमन होता है।

इस प्रकार का उत्तम स्नान करते हैं वे परम दिगम्बर वीतराग योगेश्वर जिनकी कि यह बात चलती है। इस उत्तम-शौच से उनका अन्तर्मल धुल जाने के कारण उनका शरीर पवित्र हो गया है, इतना पवित्र कि उसके स्नान का जल मेरे लिए चरणामृत है, जिसका पीना या मस्तक पर चढ़ाना मैं अपना सौभाग्य समझता हूँ। बाहर में अत्यन्त मलिन, वर्षों से स्नान रहित तथा दन्तमज्जन रहित इस शरीर में भी इतनी शुचिता आ जाती है इस उत्तम स्नान से अर्थात् लोभ-शोधन से।

३. लोभ पाप का बाप—यहाँ सर्व कषायों में लोभ को ही प्रधान बताया जा रहा है, लोक में भी लोभ को पाप का बाप बताया जाता है और यह कहना सत्य भी है; क्योंकि देखिये तो इस लोभ का प्राबल्य जिसके कारण कि ब्राह्मण पुत्र ने सब विवेक को तिलाञ्जली दे दी, कुल मर्यादा छोड़ दी, वेश्या के हाथ से रोटी का टुकड़ा मुँह में लेकर खा गया और साथ में कुछ तमाचे भी। इस प्रकार समझ गया वह उपरोक्त, लोकोक्ति की सत्यता। तुझको वैसा भी करने की आवश्यकता नहीं, अपने जीवन को पढ़ना मात्र ही पर्याप्त है। बता तो सही चेतन ! कि इस सबुह से शाम तक की भागदौड़, कलकलाहट, बेचैनी व चिन्ता का मूल क्या है ? यदि धन के प्रति लोभ न होता, यदि आवश्यकतायें अधिक न होतीं यदि सन्तोष पाया होता, धन-सञ्चय का परिमाण कर लिया होता तो क्या आवश्यकता थी इतनी कलकलाहट की व भाग-दौड़ की और क्या आवश्यकता थी चिन्तित होने की ? लोभ के आश्रित रहने वाली कोई लालसा या कामना ही तो है जो कि इस निस्सार धन की ओर तुझ को इस बुरी तरह खींचे लिये जा रही है। तुझे स्वयं को पता नहीं कि कितना कमा चुका है तू, कितना कमाना है, कब तक कमाना है और कितना साथ ले जाना है ? इस लालसा के आधीन होकर जितना कुछ आज तक सञ्चय किया है, क्या कभी उस सर्व पर एक दृष्टि डालकर देखने तक का भी अवकाश मिला है तुझे ? अरे ! इतनी कलकल में रहते हुए, अपने परिश्रम का फल, वह जो कि तुझ को अत्यन्त प्रिय है, देखने तक की सुध नहीं, भोगने की तो बात क्या ?

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मुहम्मद गजनवी की बात याद होगी। सात बार सोमनाथ पर आक्रमण किया, सारा जीवन लूटमार में खोया, परन्तु क्या उस दिन को टाल सका जो हम सबको ढिंढोरा पीट-पीटकर सावधान किया करता है कि भाई ! मैं आ रहा हूँ, कुछ तैयारी कर लेना चलने की, कुछ बान्ध लेना मार्ग के लिए, सम्भवत: आगे चलकर भूख लग जाए। परन्तु इस लालसा की हाय-हाय में कौन सुने उसकी पुकार ? उसके आने पर रोना और झींकना, अनुनय-विनय करना, 'भाई ! दो दिन की मोहलत दे दो किसी प्रकार, कुछ थोड़ा बहुत बना लूँ, अब तक बिल्कुल खाली-हाथ बैठा था। भूल गया था कि मरना पड़ेगा आगे जाकर, दया करो।' उस समय आती है बुद्धि कि क्या किया है आज तक और क्या करना चाहिए था। पर अब पछताये होत क्या जब चिड़ियाँ चुग गई खेत, वह दिन तो मोहलत देना जानता ही नहीं। अन्तिम समय गजनवी बिस्तर पर अन्तिम श्वास ले रहा है, सारा जीवन मानो बड़ी तेजी से घूम रहा है उसके हृदय-पट पर, बेहाल व बेचैन। कौन है इस सारे विश्व में जिसको सहायता के लिए पुकारे अब वह ?

धन के अतिरिक्त और है ही क्या यहाँ ? लाओ सारा धन मेरी आँखों के सामने ढेर लगा दो, आज मैं रोना चाहता हूँ, जी भरकर, अपने लिये नहीं दूसरों के लिये कि अरी भोली दुनिया ! देख ले मेरी हालत और कुछ पाठ ग्रहण कर इससे, मुट्ठी बांधकर आया था, खाली हाथ जा रहा हूँ। इस दिन पर विश्वास नहीं आता था, सुना करता था पर हंस देता था। मैंने तो भूल की पर आप अपनी भूल को सुधार लें, इस दुष्ट लोभ से अपना पीछा छुड़ायें और जीवन में ही कुछ पवित्र व्यञ्जन बनाकर तैयार कर लें ताकि रोना न पड़े तुम्हें भी आगे जाकर, मेरी भाँति।

देखिये इस लोभ की सामर्थ्य कि जिसके आधीन हो मैं न्याय-अन्याय से नहीं डरता, बड़े से बड़ा अनर्थ करता भी नहीं हिचकिचाता, इतना ही नहीं अन्याय करके उसे न्याय सिद्ध करने का प्रयत्न करता हूँ, "अजी मैं तो गृहस्थ हूँ, झूठ बोले बिना या सरकारी टैक्स मारे बिना, या ब्लैक किये बिना, या अधिकार से अधिक कर्म किये बिना कैसे चल सकता है मेरा काम, मैं कोई साधु थोड़े ही हूँ ? आप तो बहुत ऊँची बातें करते हैं, भला इस काल में ऐसी बातें कैसे चल सकती हैं ? न्याय पर बैठे रहें तो भूखे मरें", इत्यादि अनेकों बातें। परन्तु प्रभो ! करता रह अन्याय, कोई रोकता नहीं तुझे, तेरी मर्जी जो चाहे कर, गुरुवर तो केवल तुझे उस दिन की याद दिला रहे हैं। इस जीवन के लिए इतना किये बिना नहीं सरता, उस जीवन की ओर भी तो देख, वह भी तो तेरा ही जीवन है किसी और का नहीं, उसके लिए बिना किये कैसे चलेगा ? 'न्याय पर बैठे रहने से भूखा मरना पड़ेगा', यह तो केवल उस लालसा की कमर थपथपाना है क्या सन्तोषी जीवित नहीं रहते ? इतनी बात अवश्य है कि सन्तोष आने पर लालसा के प्राण समाप्त हो जाते हैं और तू लालसा को जीवित देखना चाहता है। तेरे भूखा मरने का प्रश्न नहीं है, हाँ लालसा के भूखा मरने का प्रश्न अवश्य है। परम वीतरागियों जैसी शुचिता न सही कुछ शुचिता तो धारण कर ही सकता है, कुछ तो इस लोभ को या लालसा को दबाने का प्रयत्न कर ही सकता है। ब्लैक मार्केट से तथा घूसखोरी से हाथ खेंच, आवश्यकता से अधिक पदार्थ-सञ्चय मत कर।

देखिये इस लोभ का पराक्रम। इसकी पूर्ति के लिए ही अनेकों प्रकार के छल-कपट आदि की प्रवृत्ति रूप माया को पोषण मिलता है। इसकी किंचित् पूर्ति हो जाने पर मान को पोषण मिलता है और इसकी पूर्ति में किंचित् बाधा आ जाने पर क्रोध को पोषण मिलता है। शेष तीनों कषायों को बल देने वाला यही तो है। यदि यह दुष्ट न हो तो न है आवश्यकता मायाचारी की, न रहता है अवकाश मान व क्रोध को। क्रोध कषाय तो स्थूल है, बाहर में प्रत्यक्ष हो जाती है, परन्तु लोभ छिपा-छिपा अन्तरंग में काम करता रहता है और शेष तीनों की डोर हिलाता रहता है। इसके जीवन पर ही सर्व कषायों का जीवन है और इसकी मृत्यु पर सब की मृत्यु। यद्यपि सर्व कषायों का तथा सर्व दोषों का ही शोधन करना शौच है तदपि सबका स्वामी होने के कारण केवल लोभ के शोधन को शौच कहा जा रहा है। हाथी के पाँव में सबका पाँव।

यह तो हुई गृहस्थ दशा में धन सम्बन्धी स्थूल लोभ-शोधन की प्रेरणा। अब चलती है धार्मिक क्षेत्र में प्रकट होने वाली, पहले भी अनेकों बार दृष्टि में लाई गई लोकेषणा सम्बन्धी अर्थात् ख्याति सम्बन्धी सूक्ष्म-लोभ शोधन की बात, जो सम्भवत: धन सम्बन्धी लोभ से भी अधिक भयानक है। जघन्य से उत्कृष्ट पर्यन्त सर्व भूमिकाओं में स्थित शान्ति के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उपासक धर्मी जीवों को पग-पग पर इसके प्रति सावधानी वर्तने की अधिकाधिक आवश्यकता है, क्योंकि जब तक इसका किंचित् भी संस्कार बीजरूप से अन्तरंग में पड़ा है, यह दुष्ट अंकुरित हुए बिना नहीं रहता। सन्यासी की ऊँची से ऊँची दशा में भी इसमें अंकुर फूट ही पड़ता है। तनिक सी असावधानी वर्तने पर, दीवार पर लगे हुए पीपल के अंकुरवत् यह कुछ ही समय में एक मोटा वृक्ष बन जाता है जो सारे मकान को खिला देता है और सम्पूर्ण मकान गिराये बिना उसका निर्मूलन असम्भव हो जाता है। अर्थात् संवर-प्रकरण में बताये गये तथा जीवन में उतारे गये सारे किये कराये पर पानी फेर देता है ?

आन्तरिक ख्याति की महिमा जागृत करके, धन सम्बन्धी व ख्याति सम्बन्धी लोभ का दमन करने वाला वह महापराक्रमी योगी ही उत्तम-शौच करता है, उत्तम स्नान करता है, शान्ति-गङ्गा में स्नान करता है, उसके साथ तन्मय हो जाता है ऐसा कि फिर वह शान्ति भंग न होने पावे, पवित्र हो जाता है इतना कि फिर उसमें अपवित्रता आने न पावे। उसके जीवन को अपना आदर्श बनाकर चलने वाले भो पथिक ! तू भी इस पारमार्थिक गंगा में यथाशक्ति स्नान करके किञ्चित् शुचिता, निर्लोभता, निःस्वार्थता या निष्कामता उत्पन्न कर।

❑

लोभ और माया की कुटिल वासनाओं के चक्कर में फंसकर
क्यों पतिव्रता शान्ति सुन्दरी को अन्तर्गृह से नीचे धकेल रहा है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३८. उत्तम-सत्य

१. सत्यासत्य विवेक; २. दशविध सत्य; ३. परम सत्य।

१. सत्यासत्य विवेक—पर-पदार्थों के प्रति अहंकार-बुद्धि रूपी असत्य संस्कारों के विजेता है सत्य स्वरूप प्रभु ! मुझको भी सत्य-जीवन प्रदान करें। आज उत्तम-सत्य-धर्म की बात चलती है। सत्य किसे कहते हैं और असत्य किसे, इस बात का निर्णय किए बिना 'जैसा देखा-सुना गया हो, वैसा का वैसा कह देना' लोक में सत्य कहा जाता है। परन्तु यहाँ उत्तम-सत्य की बात है साधारण सत्य की नहीं। जैसाकि उत्तम आर्जव-धर्म में बताया गया है, वचन का सत्य होना ही पर्याप्त नहीं है, सत्य होने के साथ-साथ उसका ऋत अर्थात् ऋजु या सरल होना भी अत्यन्त आवश्यक है। पूर्वोक्त सभी अधिकारों की भाँति यहाँ भी अभिप्राय की मुख्यता है। सत्य असत्य का निर्णय अभिप्राय पर से किया जा सकता है। स्व-पर-हित का अभिप्राय रखकर की जाने वाली मन, वचन, काय की क्रिया सत्य है और स्व-पर-अहितकारी अभिप्राय रखकर या हिताहित का विवेक किये बिना की जाने वाली क्रिया असत्य है।

वचन में ही सत्य या असत्य लागू होता हो, ऐसा नहीं है। मानसिक विकल्पों में, वचनों में तथा शरीरिक क्रियाओं में इन तीनों में ही सत्य व असत्य का विवेक ज्ञानीजन रखते हैं। लोक में तो केवल वचन सम्बन्धी सत्य की बात चलती है और यहाँ तीनों सम्बन्धी सत्य की बात है। मानसिक विकल्पों में किसी के प्रति हित की भावना प्रगट होना सत्य-मानसिक-क्रिया है और अहित की भावना अथवा हिताहित के विवेक-शून्य भावना प्रगट होना असत्य-मानसिक क्रिया है। अपने या अन्य के हित के अभिप्राय से अथवा सत्य-विकल्प-पूर्वक बोला जाने वाला वचन लौकिक रूप से असत्य होते हुए भी सत्य है और अपने या अन्य के अहित के अभिप्राय से अथवा असत्य-विकल्प-पूर्वक बोला जानेवाला वचन लौकिक रूप से सत्य होते हुए भी असत्य है। इसके अतिरिक्त स्व-पर-हितकारी वचन भी यदि कटु है तो दुखदायक होने के कारण असत्य हैं अतः हितरूप तथा मिष्टवचन बोलना ही सत्य-वाचिक क्रिया हैं। स्व-पर-हित के अभिप्राय अथवा मनोविकल्प सहित की जाने वाली शारीरिक क्रिया सत्य है और स्वपर अहित के अभिप्राय अथवा मनोविकल्प सहित की जाने वाली शारीरिक क्रिया असत्य है। अब इन तीनों क्रियाओं के कुछ उदाहरण सुनिये, जिनपर से कि उपरोक्त सर्व कथन का तात्पर्य समझ में आ जाए।

सर्वप्रथम अभिप्राय की सत्यता को विचारिये। तीनों का स्वामी यह अभिप्राय ही है। अभिप्राय में पारमार्थिक-सत्य आ जाने पर तीनों क्रियाएँ स्वतः सत्य हो जाएंगी। अभिप्राय की असत्यता के कारण ही मेरे जीवन में क्रोधादि कषायों का, रागद्वेष का व चिन्ताओं का प्रवेश होता है। किसी प्रकार की भी कामना में रंगी प्रत्येक स्वार्थपूर्ण क्रिया कषाय-जनक होने के कारण असत्य है। स्वपर-भेदविज्ञान हुए बिना वास्तव में अभिप्राय में पारमार्थिक सत्य आना असम्भव है। 'शरीर, धन व कुटुम्बादि का उपकार या अपकार मैं कर सकता हूँ अथवा इसके द्वारा मेरा उपकार या अपकार हो सकता है' ऐसा निश्चय बने रहना पारमार्थिक असत्य है, क्योंकि वस्तु का स्वरूप ऐसा है ही नहीं। वस्तु स्वतन्त्र है, स्वयं अपना कार्य करने में समर्थ है। वस्तु की स्वतन्त्रता का निर्णय न होने के कारण ही मेरे मन में ये विकल्प उठा करते हैं कि कुटुम्ब का पोषण मैं न करूँ तो कैसे हो, इस द्वेषी व शत्रु का विरोध न करूँ तो कैसे हो ? इन विकल्पों में से अंकुरित हो उठता है दूसरा विकल्प, यह कि धन न कमाऊँ तो कुटुम्बादि का पोषण कैसे हो ? इन विकल्पों के आधार पर हो रही हैं आज की मेरी सर्व वाचिक व शारीरिक क्रियायें, जिनके कारण मेरा जीवन चिन्ताओं में जला जा रहा है।

वास्तव में सत्य-पुरुषार्थ का यह स्वरूप है ही नहीं। इस असत्य अभिप्राय के कारण पर में कुछ करने का पुरुषार्थ करते हुए, पर में तो कुछ कर नहीं पाता, हाँ अपने में ही कुछ विकल्प या चिन्तायें अवश्य उतपन्न कर लेता हूँ। इस पुरुषार्थ-हीनता को छोड़कर सत्य-अभिप्राय प्रकट करूँ तो पुरुषार्थ की दिशा 'पर' से हटाकर 'स्व' पर आ जाए, सब विकल्प मिट जायें, शान्ति मिल जाए, जीवन सत्य बन जाए, उत्तम-सत्य का पालन होने लगे। वस्तु-स्वतन्त्रता का तथा उसकी कार्य-व्यवस्था का विस्तृत विवेचन दर्शन-खण्ड में किया जा चुका है। (देखो ९.४)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वस्तु की इस स्वतन्त्रता को देखते हुए भी भो भव्य ! क्यों तेरा अभिप्राय नहीं फिरता ? पैदा होते ही एक झाड़ी में फैंक दी गयी कन्या पीछे भारत-सम्राट जहांगीर की पत्नी नूरजहां हो गयी। किसने किया उसका पोषण ? विमान से गिरे हनुमान की किसने की रक्षा ? 'यह संस्था मेरे बिना न चलेगी' यह कहते-कहते अनेकों चले गये, पर वह संस्था ज्यों की त्यों चल रही है। कौन करता है उसकी रक्षा ? पिता के अनेकों उपाय करने पर भी सौभाग्यवती मैनासुन्दरी का भाग्य किसने बनाया ? अरे भाई ! 'मेरे द्वारा कुटुम्ब का पोषण होता है' इस मिथ्या अभिमान को छोड़। 'सब स्वतन्त्र रूप से अपना पोषण आप कर रहे हैं, अपना भाग्य स्वयं साथ लेकर आते व जाते हैं, मैं उनमें कुछ नहीं कर सकता', ऐसा सत्य-अभिप्राय बना। स्वार्थ-नाशक होने के कारण यही है वास्तविक सत्य, पारमार्थिक सत्य, उत्तम-सत्य।

मन सम्बन्धी सत्यासत्य क्रियाओं के उदाहरण अभिप्राय में ही अन्तर्भूत हो चुके हैं, अर्थात् उपरोक्त अभिप्राय के कारण मन में उठने वाले, 'पर' में करने-धरने आदि के स्वार्थपूर्ण विकल्प असत्य मनोविकल्प हैं और स्वतन्त्रता का अभिप्राय बन जाने पर निज में शान्ति वेदन का कार्य सत्य-मनोविकल्प है।

अब वचन-सम्बन्धी सत्यासत्य क्रिया के उदाहरण सुनिये। जैसा देखा-सुना या अनुभव में आया है केवल वैसा ही कह देना वास्तव में सत्य की पहिचान नहीं है। स्वपर-हितकारी, परिमित तथा मिष्टवचन ही सत्य हैं और इसके विपरीत असत्य। कोई व्यक्ति मुझसे कदाचित् आपकी चुगली करता हो और आप पीछे मुझसे पूछें कि यह व्यक्ति आपसे क्या कह रहा था, तो उस समय जो कुछ चुगली के शब्द उसने मुझसे कहे थे वे ज्यों के त्यों आपसे कह देना यहाँ शान्ति के मार्ग में सत्य नहीं है, असत्य है। और 'आपके सम्बन्ध में कुछ बात नहीं थी, कुछ और ही बात कहता था', अथवा 'आपकी प्रशंसा में इस प्रकार कहता था' ऐसा बोल देना भी यहाँ सत्य है। क्योंकि पहली बात से आपके हृदय में क्षोभ आ जाने की सम्भावना है और आपके तथा उस व्यक्ति के बीच द्वेष बढ़ जाने की सम्भावना है, अतः पहला वचन अहितकारी होने से असत्य है। दूसरे वचन के द्वारा आपको सन्तोष आयेगा और आपके तथा उस व्यक्ति के बीच पड़ा वैमनस्य कुछ कम हो जायेगा, अतः हितकारी होने के कारण यह दूसरा वचन सत्य है। यह है वचन की सत्यता व असत्यता की परीक्षा। साथ-साथ इतना आवश्यक है कि वह वचन मधुर व हितकारी होना चाहिये और संक्षिप्त भी, ताकि तीसरा व्यक्ति सुनकर यह संशय न करने लगे कि ये परस्पर में बात कर रहे हैं या अनर्गल प्रलाप।

वचन की भाँति शरीर द्वारा की गई स्वपर-अहितकारी क्रियायें, इन्द्रिय-संयम वाले प्रकरण में कथित विषयासक्ति-युक्त तथा प्राण-संयम में कथित हिंसा आदि युक्त क्रियायें असत्य-शारीरिक व्यापार हैं। इनके विपरीत स्वपर-हितकारी अथवा संयमित क्रियायें सत्य-शारीरिक व्यापार हैं।

२. दशविध सत्य—लौकिक व्यवहार चलाने के अर्थ भी अनेकों अभिप्रायों के आधार पर वचन बोले जाते हैं, जो कि अभिप्राय की सत्यता के कारण सत्य और अभिप्राय की असत्यता के कारण असत्य समझे जाने चाहियें। जैसे— १. अनेक व्यक्तियों या वस्तुओं में से किसी एक व्यक्ति या वस्तु की ओर लक्ष्य दिलाने के अभिप्राय से बोला जाने वाला वचन **'नाम-सत्य'** है, भले ही उस नाम द्वारा प्रदर्शित होने वाले गुण उसमें हों या न हों, जैसे इन्द्रियों को न जीतने वाला भी मैं आपके द्वारा 'जिनेन्द्र' नाम से पुकारा जाता हूँ। परन्तु यदि यही नाम इन्द्रियों को जीतने वाले ऐसे जिनेन्द्र-भगवान के अभिप्राय से मेरे सम्बन्ध में कोई प्रयुक्त करने लगे, तो वही वचन असत्य होगा। २. चित्र या प्रतिमा में किसी की आकृति या रूप को देखकर, 'यह चित्र उस व्यक्ति का है' ऐसा न कहकर, 'यह अमुक व्यक्ति है' ऐसा कह देना **'रूप-सत्य'** है। परन्तु इस प्रतिमा या चित्र को कोई वास्तव में व्यक्ति समझकर ही यह वचन कहे तो वही वचन असत्य होगा। ३. किसी भी पदार्थ में किसी अन्य पदार्थ की कल्पना करके, उसे वह पदार्थ बता देना **'स्थापना-सत्य'** है, जैसे कि शतरंज के पासों में आकारादि न दीखने पर भी, 'यह हाथी है' इत्यादि कह देना सत्य है परन्तु कोई इस पासे को वास्तविक हाथी समझकर इसे हाथी कहे तो यही वचन असत्य होगा। ४. आगमकथित तथ्यों पर से 'यह ऐसे ही है' ऐसा विश्वास रखना **'आज्ञा-सत्य'** है, जैसे कि छिन्न-भिन्न करने मात्र से किसी वनस्पति को अचित कह देना सत्य है, क्योंकि आगम की ऐसी ही आज्ञा है, यद्यपि सम्भव है कि छिन्न-भिन्न कर लेने पर भी इसमें अनेकों

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जीव विद्यमान हों। परन्तु इसको वास्तव में वैसा ही समझ लेना अर्थात् सर्वथा अचित् समझ लेना या वैसा समझकर उसे अचित् कहना असत्य है। इसी प्रकार प्रमाणिक व्यक्तियों या आगम के विश्वास के आधार पर अनेक सूक्ष्म, दूरस्थ व अन्तरित पदार्थों के सम्बन्ध में यह कहना 'कि ये ऐसे ही हैं', सत्य है, जैसे कि धर्मास्तिकाय आदि का साक्षात्कार न होने पर भी 'द्रव्य छः ही हैं' यह कहना सत्य है। परन्तु बिना किसी आधार के युक्ति आदि द्वारा किञ्चित् भी निर्णय किये बिना, केवल पक्षपातवश ऐसा कह देना असत्य है। ५. अनेक कारणों से उत्पन्न हुए कार्य को किसी एक कारण से उत्पन्न हुआ कह देना सत्य है, जैसे कि 'किसान के द्वारा खेती बोई गई' यह कहना सत्य है। परन्तु अन्य सब कारणों को भूलकर 'केवल किसान ने ही खेती बोई' ऐसा कहना असत्य है। ६. अनेक पदार्थों से मिलकर बने किसी पदार्थ को एक नाम से कह देना सत्य है, जैसे कि कुंकुमादि से बने पदार्थ को धूप कहना सत्य है। परन्तु इस नाम का कोई पृथक् सत्ताधारी पदार्थ समझकर धूप कहना असत्य है। ७. अनेक देशों में अपनी-अपनी भाषा के आधार पर एक ही पदार्थ को अनेक नामों से कहा जाना **'व्यवहार-सत्य'** है, जैसे कि भारत में कहे जाने वाले 'ईश्वर' को इङ्गलैण्ड में 'गॉड' शब्द द्वारा कहा जाना सत्य है। परन्तु 'ईश्वर पृथक् है और गॉड पृथक् है' ऐसा अभिप्राय रखकर कहे जाने वाले वही शब्द असत्य हैं। ८. किसी बात की सम्भावना को देखते हुए, 'ऐसा हो सकता है' ऐसा कह देना **'सम्भावना सत्य'** है, जैसे कि 'आज विश्व में युद्ध हो जाना सम्भव है' यह कह देना सत्य है। परन्तु युद्ध अवश्य होगा ही' ऐसा अभिप्राय रखकर यही वचन कहना असत्य है। ९. किसी की उपमा देकर, 'यह पदार्थ तो बिल्कुल वही है' ऐसा कह देना **'उपमा-सत्य'** है, जैसे कि जवाहरलाल नेहरू जैसी कुछ आकृति व कुछ संस्कार देखकर, 'यह बालक तो जवाहरलाल है' ऐसा कह देना सत्य है। परन्तु बिल्कुल जवाहरलाल मानकर ऐसा कहना असत्य है। १०. किसी कार्य को करने का संकल्प मात्र कर लेने पर 'मैं यह काम कर रहा हूँ' ऐसा कहना **'अभिप्राय-सत्य'** है। जैसे कि देहली जाने की तैयारी करते हुए 'मैं देहली जा रहा हूँ' यह कहना सत्य है। परन्तु वास्तव में 'इस समय रेल में बैठे हुए मैं देहली जा रहा हूँ' ऐसा अभिप्राय रख कर बोला हुआ यही वचन असत्य है। इस प्रकार अनेक जाति के अभिप्रायों के हेरफेर से अपने लौकिक व्यवहार में वचन सत्य होते हुए देखे जाते हैं।

३. परम-सत्य—मन, वचन व कायगत इन व्यवहारिक सत्यों के ऊपर है वह पारमार्थिक सत्य जिसे मैं हार्दिक सत्य कहता हूँ, उस हृदय राज्य का सत्य जहाँ तक देह व इन्द्रियों की तो बात नहीं मन व बुद्धि भी पहुँच नहीं सकते। तत्त्व में अथवा उसके परम तेज में लय हो जाने के कारण इन सबकी सत्ता सत्ताहीन हो चुकी है यहाँ और सबका तेज तेजहीन। सबके प्रयोजन निःशेष हो जाने से शून्यमात्र बनकर रह जाते हैं यहाँ। न रहते हैं संकल्प और न विकल्प, इसलिए न कुछ करने का प्रयोजन रहता है यहाँ और न कुछ कहने-सुनने तथा विचारने का। सब कुछ महासत्य में लय हो जाता है, रह जाता है केवल एक ज्ञाता-दृष्टा भाव और उसमें से उत्पन्न होने वाला सहज आनन्द-स्रोत। सकल विधि-निषेधात्मक द्वन्द्वों से अतीत हो जाता है वह, 'तमाशा देखने के तथा देखते रहने के अतिरिक्त कुछ भी कर्त्तव्य नहीं है अब उसका', इतना कहना भी उपचार है, क्योंकि यह तो उसका स्वभाव है न कि कर्त्तव्य। संकल्प-विकल्परूप मानसिक क्षोभ के नीचे दबा पड़ा था वह, उसके शान्त हो जाने के कारण अभिव्यक्त हो गया है अब। कुछ भी प्रयोजन नहीं है अब उसको, न सत्य से और न असत्य से। सत्य भी असत्य है उसके लिए और असत्य भी सत्य है उसके लिये। बालकवत् प्रयोजनहीन हो जाने के कारण उसे क्या पता कि सत्य क्या और असत्य क्या ? सभी कुछ खेल है उसके लिये। सत्य-निष्ठ हो जाने के कारण जिसका व्यक्तित्व स्वयं सत्य बन गया है, उस सत्य-मूर्ति के सत्य का लक्षण शब्दों द्वारा कोई कैसे करे ? बने सो जाने, खाये सो चखे।

न है उसे कुछ करने का प्रयोजन और न मना करने की हठ। जिस प्रकार बालक को खेलने के अतिरिक्त अपनी ओर से अन्य कुछ भी करने का प्रयोजन नहीं, माता-पिता ने कह दिया तो कर दिया, नहीं तो न सही; इसी प्रकार इस महायोगी को भी जानने, देखने तथा आनन्द-मग्न रहने के अतिरिक्त अपनी ओर से अन्य कुछ भी करने का प्रयोजन नहीं, लोक-संग्रहार्थ कुछ करना पड़ा तो कर दिया, नहीं तो न सही। जिस प्रकार माता-पिता के अर्थ करने वाले बालक को उस कृत्य के अच्छे या बुरे परिणाम से कोई प्रयोजन नहीं, और इसलिए कार्य करके भी उससे अलिप्त रहता है वह; इसी प्रकार

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लोक-संग्रहार्थ करने वाले उस महायोगी को भी उस कृत्य के अच्छे या बुरे परिणाम से कोई प्रयोजन नहीं, और इसलिए कर्म करके भी उससे अलिप्त रहता है वह। सब कुछ ईर्यापथ है उसके लिए, किया और समाप्त। इसलिए जिस प्रकार बालक को व्यवहार्य या अव्यवहार्य कुछ भी करके न तो किसी से भय होता है और न छिपने-छिपाने की आवश्यकता; इसी प्रकार उस महायोगी को भी व्यवहार्य या अव्यवहार्य कुछ भी करके, न तो किसी से भय होता है और न छिपने-छिपाने की आवश्यकता। इसीलिए अन्तिम सत्य है यह, सत्य व असत्य दोनों से अतीत पारमार्थिक सत्य है यह।

परन्तु अव्यवहारिक है यह स्थिति, केवल समता-मूर्ति महा-योगियों के सत्य-जीवन का संक्षिप्त सा परिचयमात्र है यह, न कि व्यवहारिक जनों के लिए अनुकरणीय। सत्य के पूर्वोक्त सोपानों के यथाक्रम अवलम्बन पूर्वक मनोगत तथा बुद्धिगत वासनाओं को क्षीण करके मन व बुद्धि को निश्चेष्ट किये बिना ऐसा होना सम्भव नहीं और इनके निश्चेष्ट हो जाने पर व्यक्ति जगत-व्यवहार के योग्य रहता नहीं। ❑

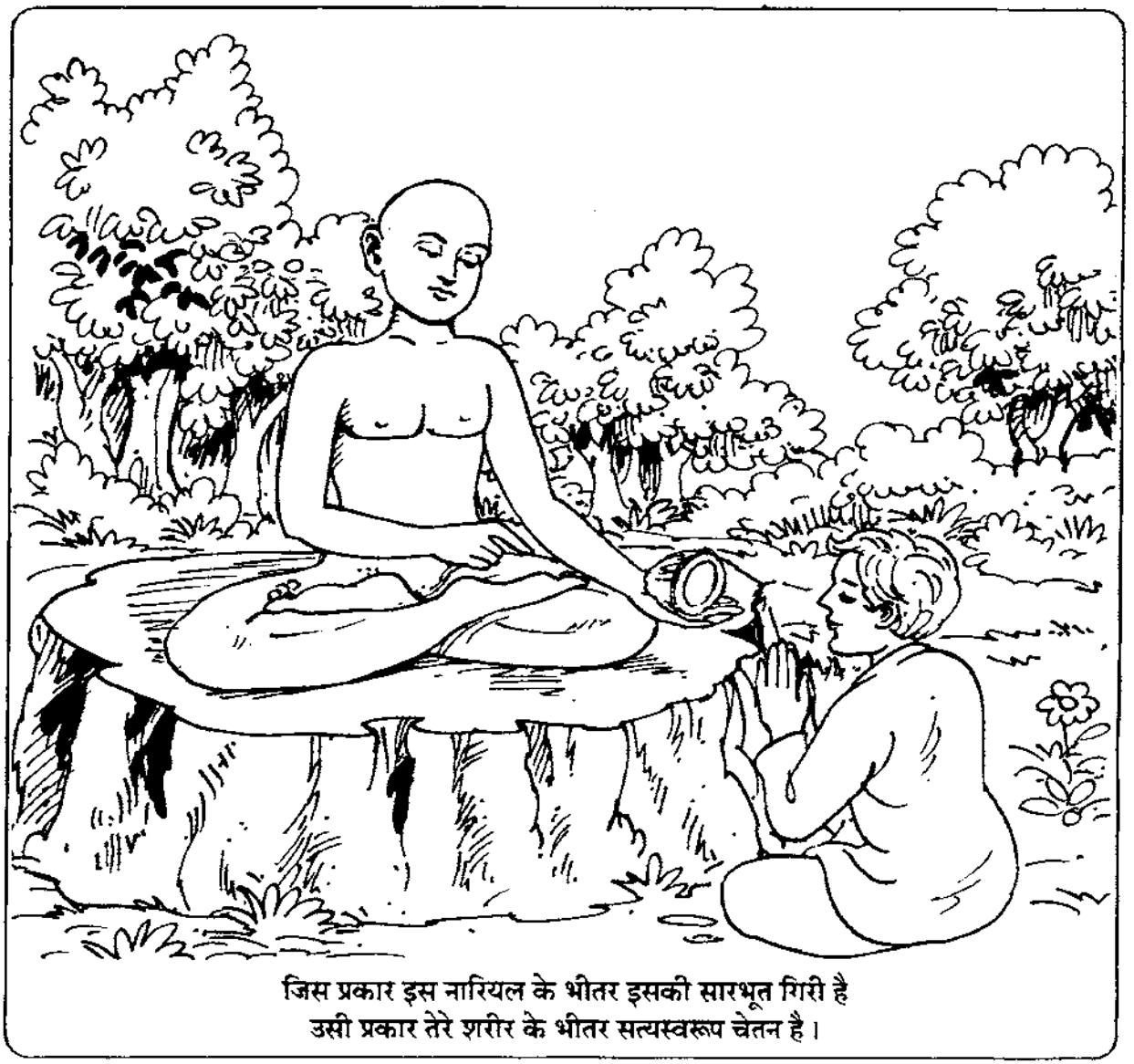

जिस प्रकार इस नारियल के भीतर इसकी सारभूत गिरी है
उसी प्रकार तेरे शरीर के भीतर सत्यस्वरूप चेतन है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३९. उत्तम-संयम

१. यम व नियम; २. इन्द्रिय संयम; ३. प्राण संयम; ४. परम संयम।

१. यम व नियम—भव-भव के दुष्ट संस्कारों का यमन करने वाले है अन्वर्थ संज्ञक वीतराग प्रभु ! मुझे यम प्रदान कीजिये। प्रतिक्षण होने वाली विकल्पात्मक अन्तर्मृत्यु को जीतकर मृत्यु की सर्वदा के लिए मृत्यु कर देने वाले, मृत्युञ्जयपद को प्राप्त हे यमराज ! मुझको भी अपनी शरण में लीजिये। ओह ! कैसी अनोखी बात है कि जिस यमराज से जगत कांपता है, आज उसकी शरण में जाने की प्रार्थना की जा रही है। विस्मय मत कर प्रभु ! यमराज से डरने वाला मोह से ग्रसित जगत वास्तव में जानता ही नहीं कि यमराज कौन है ? लोक में तो यमराज का अत्यन्त भयानक काल्पनिक चित्रण खेंचा गया है, पर ऐसा वास्तव में नहीं है। यमराज का स्वरूप सुन्दर है, अत्यन्त शान्त है, लोक में अमृत बरसाने वाला है। दुष्ट संस्कारों का यमन करके जिन्होंने मृत्यु की भी मृत्यु कर दी है, ऐसे वे महा मृत्युञ्जय सिद्ध प्रभु ही वास्तविक यमराज हैं, उनकी शरण में जाने की बात है अर्थात् स्वयं यमराज बनने की बात है। भय को अवकाश नहीं, उत्साह उत्पन्न कर। आज संयम का प्रकरण चलता है।

संयम अर्थात् सम्यक् प्रकार यमन करना, नियन्त्रित करना, संस्कारों को। वैसे तो संयम के सम्बन्ध में अब तक बहुत कुछ कहा जा चुका है परन्तु अभी भी पर्याप्त नहीं है। संयम दो प्रकार का है—एक संस्कारों की पूर्ण-मृत्यु रूप और दूसरा किञ्चित्-मृत्युरूप। पूर्ण-संयम को यम और किञ्चित-संयम को नियम कहा जाता है। अर्थात् अत्यन्त पराक्रमी जीवों द्वारा संस्कारों का जीवन पर्यन्त के लिए धुतकारा जाना यम है और अल्प-शक्तिवाले जीवों के द्वारा उनका सीमित समय के लिए पन्द्रह मिनट के लिए, या आध घण्टे के लिए, या पाँच सात दिनों या महीनों या वर्षों के लिए आंशिक रूप में धुतकारा जाना नियम कहलाता है। अब तक जितना भी कथन चला था वह सब नियम था क्योंकि मन्दिर के अनुकूल वातावरण में आध-पौन घण्टे-मात्र तक की सीमा के लिए करने में आता था, अथवा व्रत लिये बिना अर्थात् व्रत वाले प्रकरण में बताए गए 'तो' रूप शल्य के निकाले बिना केवल अभ्यास रूप में किया जा रहा था। उसी अभ्यास के कारण शक्ति की वृद्धि हो जाने पर वह नियमी बन जाता है यमी, संयमी अर्थात् संन्यासी। तब उसके बल व पराक्रम के क्या कहने ? मनकी कुछ भी तीन-पाँच नहीं चलती है अब उसके सामने।

इस दशा को प्राप्त होकर वह यमी बाह्य में प्रकट होने वाले सम्पूर्ण स्थूल संस्कारों की शक्ति का विच्छेद कर देता है, और पुनः वे अंकुरित न होने पावें इस प्रयोजनवश अनेकों कड़ी-कड़ी प्रतिज्ञायें धारण कर लेता है। 'जीवन जाए तो जाए पर यह प्रतिज्ञा अब भङ्ग न होने पाए' ऐसी दृढ़ता है आज उसकी अन्तर्गर्जना में। वह यमराज बनने को निकला है। वीरों का वीर यह यद्यपि पहले ही से इन्द्रियों को वश में कर चुका था और प्राणियों को भी पीड़ा देने का उसे अवसर प्राप्त नहीं होता था पर आज उसका वह इन्द्रिय व प्राण-संयम पूर्णता की कोटि को स्पर्श कर चुका है।

२. इन्द्रिय-संयम—घरबार को तथा राज्यपाट आदि को लात मारकर पूर्ण संन्यासी हो गए हैं वे आज। वन में अकेले वास करने वाले वे बाह्य के तो सम्पूर्ण विषयों का त्याग कर ही चुके हैं, अन्तरङ्ग में भी इन्द्रियों को पूर्णतया जीत चुके हैं। विषयों में आवश्यक अनावश्यक का कोई भेद नहीं रह गया है अब उनके लिए। सकल विषय अनावश्यक बन चुके हैं आज उनके लिए। स्पर्शनेन्द्रिय को ललकारते हुए यथाजात नग्न-वेष धारण किया है उन्होंने। गरमी, सर्दी, बरसात, मच्छर-मक्खी आदि की बाधाओं से बचने का अब किञ्चित मात्र भी विकल्प शेष नहीं रहा है उनमें, जिसकी घोषणा कि उनके शरीर की नग्नता कर रही है। इस नग्न-अवस्था में भी बिना किसी आश्रय के केवल आकाश की छत के नीचे, बीहड़ वनों में अथवा भयानक श्मशानों में, सर्दी की तुषार बरसाती रातों के बीच, उनकी निश्चल व निर्भीक ध्यानस्थ अवस्था उनके पूर्ण स्पर्शन-इन्द्रिय-विजेतापने का विश्वास दिला रही हैं। गर्मी की आग बरसती दोपहरियों में, तप्त बालू पर खुले जाज्वल्यमान आकाश के नीचे धारा हुआ उनका आतापन योग, शरीर के प्रति उनकी अतीव निर्ममता का द्योतक है। आज दिशायें ही उनके वस्त्र हैं, इसके अतिरिक्त और कृत्रिम वस्त्रों की उन्हें आवश्यकता नहीं। मैथुन भाव पर उनकी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जय घोषणा करने वाली निर्विकार शान्त-आभा मुझे स्पर्शन-इन्द्रिय के विषय पर उनकी पूर्ण विजय का दृढ़ विश्वास दिला रही है। शरीर मैला-कुचैला साफ-सुथरा कैसा भी रहे, सब समान है आज उनके लिये।

महीनों-महीनों के उपवास के पश्चात् भी, आकुल या आसक्त-चित्त से गृद्धतासहित आहार की ओर दृष्टि नहीं उठाना, तथा अन्तराय या काई भी बाधा आ जाने पर शान्तिपूर्वक आहार-जल का त्याग करके पुनः वन को लौट जाना, उनकी जिह्वा-इन्द्रिय पर पूर्ण विजय का प्रदर्शन कर रहा है। आहार लेते समय भी स्वादिष्ट या अस्वादिष्ट में, नमक सहित या नमक रहित में, मीठे या खट्टे में, चिकने या रूखे में, गरम या ठण्डे में, उनकी मुखाकृति का एकीभाव उनकी अन्तर्साम्यता व रस-निरपेक्षता की घोषणा करता हुआ उन्हें जिह्वा-इन्द्रिय विजयी सिद्ध कर रहा है। रोम-रोम को पुलकित कर देने वाला सर्वसत्व-कल्याण की करुणापूर्ण भावनाओं से निकला, उनका हितकारी व अत्यन्त मिष्ट सम्भाषण, वचन पर उनका पूर्ण नियन्त्रण दर्शाता हुआ उनके पूर्ण जिह्वा-इन्द्रिय-विजयी होने का विश्वास दिला रहा है।

विष्टा के पास से गुजरते हुए भी उनकी मुखाकृति की सरलता व शान्तता का निर्भङ्ग रहना, किसी कुष्ठी आदि के ग्लानिमयी शरीर को देखकर भी उनकी आँख का दूसरी ओर न घूमना तथा किसी उद्यान के निकट से जाते हुए या वहाँ बैठे हुए आने वाली धीमी-धीमी सुगन्धि की ओर उनके चित्त का आकर्षित न होना, मुखाकृति पर किसी सन्तोष-विशेष के चिह्न न दीखना उनके पूर्ण नासिका-इन्द्रिय-विजयीपने को सिद्ध करता है। दुर्गन्धि व सुगन्धि में साम्यभाव उनकी पूर्ण-वीतरागता का तथा शान्ति के रसास्वादन का प्रतीक है, जिसके कारण कि उन दोनों में उन्हें भेद भासता नहीं।

तीखे कटाक्ष करती, शृङ्गारित रम्भा व उर्वशी सी सुन्दर युवतियों के सामने आ जाने पर भी विकृत दृष्टि से उधर न लखाना अथवा महा-भयानक कोई विकराल रूप दीख पड़ने पर भी उनकी आभा में कोई अन्तर न पड़ना, आहारार्थ चक्रवर्ती के महल में या साधारण-जन की कुटिया में प्रवेश करते उनका गौवत् समान भाव में स्थित रहना, उनके पूर्ण नेत्र-इन्द्रिय-विजयी होने की घोषणा कर रहा है। सुन्दर-असुन्दर, मनोज्ञ-अमनोज्ञ सब समान है आज उनके-लिए। निन्दा व स्तुति दोनों में समान रहने वाली उनकी समबुद्धि, निन्दक व वन्दक दोनों के लिए समान रूप से प्रकट होने वाली कल्याण की भावना तथा दोनों के लिए मुख से एक शान्त मुस्कान के साथ निकला हुआ 'तेरा कल्याण हो' ऐसा आशीर्वचन उनके पूर्ण कर्णेन्द्रिय-विजयी होने का द्योतक है।

इन सबके अतिरिक्त स्वर्ण व कांच में तथा हानि व लाभ में रहने वाली उनकी साम्यता, निर्लोभता व निष्कपटता उनके पूर्ण-निष्परिग्रहीपने का, पूर्ण-त्यागीपने का आदर्श उपस्थित करती है। शत्रु व मित्र में समानता उनकी क्षमा को, और अनेकों गुणों तथा चमत्कारिक ऋद्धियों के या शक्ति-विशेषों के होते हुए भी उन्हें प्रयोग में न लाना उनकी निरभिमानता व क्षमता का द्योतक है। कहाँ तक कहें, ये वीतरागी साधु जिनको कि मैंने आदर्श स्वीकार किया है, पूर्ण-संयमी हैं, पूर्ण-इन्द्रिय-विजयी हैं, पूर्ण-कषाय-विजयी हैं।

३. प्राण-संयम—इन्द्रिय-संयम के अतिरिक्त प्राण-संयम भी पूर्ण हो जाता है यहाँ। संयम-अधिकार के अन्तर्गत कथित जीव हिंसा के १२९६० विकल्पों का (देखो २६.८) पूर्ण त्याग कर देते हैं वे, अर्थात् जो कुछ भी कमी रह गई थी उसे भी दूर करके पूर्णरूपेण प्राण-संयमी बन जाते हैं वे। मनुष्य से लेकर चींटी पर्यन्त चलने फिरने वाले त्रस-जीवों की तो बात क्या, स्थावर-जीवों की हिंसा भी पाप है आज उनके-लिए। वायुकायिक जीवों को बाधा न हो इस अभिप्राय से पंखा नहीं झलते हैं वे, वनस्पति-कायिक जीवों को पीड़ा न हो इस अभिप्राय से घास का एक तिनका भी तोड़ना स्वीकार नहीं करते हैं वे। क्या बतायें उनकी दयालुता, पृथ्वी तथा जल को बाधा पहुँचाना तक सहन नहीं है आज उन्हें। इसीलिए न कभी जल में गमन करते हैं और न मिट्टी आदि लेने के लिए पृथ्वी कुरेदते हैं वे। धन्य है उनकी आदर्श करुणा।

गृहस्थ दशा में उन्हें केवल संकल्पी-हिंसा का त्याग था, उद्योगी तथा आरम्भी हिंसा कम से कम हो ऐसा यत्न मात्र करते थे, परन्तु उसका सर्वथा त्याग नहीं था। अपनी, अपने कुटुम्ब की तथा अपने देश की रक्षा के लिए चोर-डाकुओं तथा आततायियों के साथ युद्ध करते समय विरोधी हिंसा अनिवार्य करनी पड़ती थी उन्हें। परन्तु यहाँ इन तीनों का भी पूर्ण त्याग हो जाता है। साधु के पास न है कुछ उद्योग व आरम्भ, न व्यापार-धन्धा और न घरबार का कामकाज। धन, गृह-कुटुम्बादि को छोड़ देने के कारण अन्य कोई वस्तु या देश उनके पास है ही नहीं, जिसे कि चोर-डाकु लूट सकें या जिसके लिए आततायी आक्रमण कर सकें। अब लोक की बड़े-से-बड़ी बाधा भी उनकी शान्ति

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में विघ्न डालने को समर्थ नहीं। उनका कर्त्तव्य बदल चुका है अब, उनका शरीर बदल चुका है अब, उनकी सम्पत्ति बदल चुकी है अब, उनका कुटुम्ब बदल चुका है अब, उनका देश बदल चुका है अब। आज ज्ञान उनका शरीर है, शान्ति उनकी सम्पत्ति है, वैराग्य, समता, मैत्री, उत्साह, उल्लास उनका कुटुम्ब है, विवेक उनका देश है। इनमें से किसी भी वस्तु को न तो चोर डाकू चुराने के लिए समर्थ हैं और न कोई आततायी इन पर आक्रमण करने को समर्थ है। तब किसे समझें वे अपना शत्रु ? उनके ज्ञान शरीर पर चलने के लिए कोई हथियार ही नहीं। गर्मी, सर्दी, बरसात आदिरूप प्राकृतिक बाधाएँ हों या हों मक्खी-मच्छर आदिकृत उपद्रव, पशु-पक्षी आदिकृत संकट हों या हों अज्ञानी-जनों कृत उपसर्ग, उनके मुख-मण्डल पर फैली मधुर मुस्कान का भेद करने को कोई समर्थ नहीं।

और तो कुछ उनके पास है नहीं जिस को उनसे छीना जा सके, एक शरीर है परन्तु वह है अलौकिक। तिल-तिल करने के लिए तैयार हो कोई इसके, कोल्हू में पेलने के लिये उद्यम हुआ हो कोई इसको, अथवा जीवित भस्म कर देने का भाव लेकर आया हो कोई इसे, कुत्तों के द्वारा नुचवाने के लिए दही छिड़कता हो कोई इस पर, दीवार में चिनने लगा हो कोई इसे, परन्तु उन्हें क्या चिन्ता, उन्हें क्या भय ? अपने द्वेष की आग जिस वस्तु पर, जिस शरीर पर बुझाई जा रही है, वह उनका है ही नहीं अब, उससे ममत्व है ही नहीं अब, फिर उस विद्वेषी के प्रति उन्हें द्वेष क्यों हो, घृणा क्यों हो, क्रोध क्यों हो, इससे मुकाबला करने की भावना क्यों हो ? वह बेचारा रंक स्वयं नहीं जानता कि क्या है इस योगी के पास जिसको छीनने से कष्ट हो सकेगा इन्हें। उसको तो दिखाई देता है यह चमड़े का शरीर, जिसे बाधा पहुँचने पर स्वयं उसे प्रतीत होती है बाधा। उसी तुला पर तोलता है आज वह इस परम योगेश्वर की सम्पत्ति को, शान्ति को, और यदि पता भी हो उसे तो इसके छीनने में बिल्कुल असमर्थ है वह। इसलिए क्यों समझें वे योगी उसे शत्रु ? वह तो बेचारा है रंक, द्वेष की अन्तर्दाह में नित्य जलते रहने के कारण स्वयं बहुत दुःखी। वह तो है उस योगी की करुणा का पात्र, विरोध का नहीं। उसके लिए भी उस योगी के मुख से निकलता है कल्याणात्मक आशीर्वाद जैसे कि एक भक्त के लिए। यह है साधु की पूर्ण अहिंसा, उनका पूर्ण प्राण-संयम।

४. परम-संयम—इससे भी ऊपर है संयम तथा असंयम से अतीत उनका वह परम संयम जिसे साक्षात् अमृत-कुम्भ कहा गया है। जिनके मन तथा बुद्धि मर चुके हैं, जिनके समस्त संकल्प-विकल्प परम सत्य में विलीन हो चुके हैं, उनके लिए क्या संयम और क्या असंयम ? सब बच्चों का सा खेल है अब उनके लिए। जिस प्रकार एक बालक के लिए स्वयं राजा बनकर चोर को दण्ड देना भी वैसा ही है जैसा कि स्वयं चोर बनकर राजा से दण्ड पाना, उसी प्रकार सत्य-स्वरूप उस महायोगी के लिए संयम-युक्त होकर रहना भी वैसा ही है जैसा कि संयम विहीन होकर रहना। त्याग भी उनके लिए वैसा ही है जैसा कि ग्रहण। जिस प्रकार कोई रोगी रोग-वर्धक कारणों से बचने के लिए अपने ऊपर अनेक प्रकार के प्रतिबन्ध लगाता है परन्तु रोग शान्त हो जाने पर उन सब प्रतिबन्धों का त्याग करके हल्का हो जाता है; उसी प्रकार शान्ति-पथ का साधक अध्यात्म योगी विकल्प-वर्धक कारणों से बचने के लिए अपने ऊपर अनेक प्रकार के प्रतिबन्ध लगाता है परन्तु विकल्प-रोग शान्त हो जाने पर उन सर्व प्रतिबन्धों का त्याग करके हलका हो जाता है। जिस प्रकार रोग-मुक्त हो जाने पर वे त्यक्त पदार्थ अब उस व्यक्ति को बाधा कारक नहीं होते हैं, उसी प्रकार विकल्प-मुक्त हो जाने पर सकल त्यक्त पदार्थ अब उस महा-योगी को बन्धकारक नहीं होते हैं। रोग-मुक्त हो जाने पर भी वह व्यक्ति यदि उन पदार्थों के त्याग की हठ न छोड़े तो उसका वह त्याग ही उसके लिए महा-रोग बन जाता है, उसी प्रकार विकल्प-मुक्त हो जाने पर भी वे महा-योगी यदि उन पदार्थों के त्याग की हठ न छोड़ें तो उनका वह त्याग ही उनके लिए महा-विकल्प बन जाता है। दोनों ओर से सन्तुलित रहना ही स्वास्थ्य है।

इसलिए समतारूप सत्य-भूमि में प्रविष्ट महा-योगी सकल प्रतिबन्धों से मुक्त हो जाते हैं और यही है पारमार्थिक असंयमरूप उनका संयम, संयम असंयम से अतीत तृतीय भूमि। परन्तु अव्यवहारिक है यह, मन बुद्धि से अतीत समता भोगी के लिए अमृत कुम्भ होते हुए भी मन बुद्धि के जगत में रहने वाले व्यावहारिक जनों के लिए विषकुम्भ है यह। संयम के पूर्वोक्त विविध सोपानों के यथाक्रम अवलम्बन-पूर्वक मनोगत तथा बुद्धिगत वासनाओं को क्षीण करके मन व बुद्धि को निश्चेष्ट किये बिना ऐसा होना सम्भव नहीं, और इनके निश्चेष्ट हो जाने पर व्यक्ति जगत-व्यवहार के योग्य रहता नहीं। ❑

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

४०. उत्तम-तप

१. परिचय; २. षड्विध बाह्य तप; ३. षड्विध आभ्यन्तर तप।

१. परिचय—सर्व बाह्य व आभ्यन्तर संग से मुक्त हे एकान्तवासी गुरुदेव ! मुझको भी विकल्पों से मुक्त करके निज एकान्त शान्ति का आवास प्रदान कीजिये। गृहस्थोचित सामान्य-तप का तथा शक्ति व परिस्थिति के अनुसार मानस तप का उल्लेख पहले किया जा चुका है। वहाँ यह संकेत किया गया था कि अभ्यास के द्वारा शक्ति में वृद्धि हो जाने पर कुछ अन्य प्रकार के भी बाह्य तथा आभ्यन्तर तप योगी जन किया करते हैं। उन तप-विशेषों का उल्लेख करना ही यहाँ प्रयोजनीय है। वहाँ विस्तार सहित यह बात बताई जा चुकी है कि 'तप' शब्द का अर्थ है वह प्रबल पुरुषार्थ जो कि साधक संस्कारों का मूलोच्छेद करने के लिए किया करता है; अर्थात् प्रतिकूल वातावरण में जाकर सुप्त संस्कारों को जगाना, उन्हें ललकारना तथा पूरी शक्ति से उनके साथ युद्ध ठानना। बहुत बल की आवश्यकता है इसके लिए जो प्रायः योगी जनों में ही होना सम्भव है, तथापि अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार गृहस्थ भी हीनाधिक रूप में उन्हें करे तो उसे किसी अचिन्त्य लाभ की प्राप्ति होती है।

संस्कार दो प्रकार के हैं—एक तो वे जिनका कि क्षेत्र है बाहर का यह स्थूल-शरीर और दूसरे वे जिनका क्षेत्र है आभ्यन्तर का सूक्ष्म-शरीर अर्थात् मन, बुद्धि आदि। पहले संस्कारों का कार्य है शारीरिक पीड़ाओं में मुझे शान्ति तथा समता से बलपूर्वक विचलित करके उन पीड़ाओं के चिन्तवन में अटका देना। दूसरे संस्कारों का कार्य है मेरे भीतर विविध प्रकार की इच्छायें, अथवा वासनायें जाग्रत करके मुझे विविध प्रकार के विषय-चिन्तवन में नियोजित कर देना। अतः तप भी दो प्रकार का होना स्वाभाविक है—एक बाह्य-तप जिसका प्रयोजन है बाह्य-क्षेत्रवर्ती संस्कारों का मूलोच्छेद करना और दूसरा आभ्यन्तर-तप जिसका प्रयोजन है आभ्यन्तर-क्षेत्रवर्ती संस्कारों को नष्ट करना। दोनों ही प्रायः छः-छः प्रकार के हैं। बाह्य-तप में सम्मिलित हैं—अनशन, अवमौदर्य या ऊनोदरी, वृत्ति-परिसंख्यान, रस-परित्याग, विविक्त-शय्यासन और कायक्लेश। आभ्यन्तर-तप में सम्मिलित हैं—प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्त्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान। इन सबका उल्लेख क्रम से किया जाने वाला है। अधिक विस्तार न करके संक्षेप से ही परिचय देने का प्रयत्न करूँगा।

२. षड्विध बाह्यतप—तप के सामान्य स्वरूप का विवेचन करते हुए यह बताया जा चुका है कि शान्ति तथा समता की प्राप्ति के लिए साधक शारीरिक पीड़ाओं की चिन्ता नहीं करता। शरीर को शान्ति तथा समता के उत्पादनार्थ लगाई गई मशीन से अधिक कुछ नहीं समझता। अपनी शक्तियों को न छिपाता हुआ पूरे उत्साह के साथ बराबर आगे बढ़ता जाता है निर्भय, एक महा-सुभट की भाँति, संस्कारों के साथ युद्ध करता। ज्यों-ज्यों विजय प्राप्त करता है उन पर, त्यों-त्यों वृद्धि होती चली जाती है उसकी शक्ति में, उत्साह तथा उल्लास में। बस स्थिरता का चारजामा कस, तप के हथियार सजा, कूद पड़ता है वह युद्धस्थल में और ललकारता है एक-एक शारीरिक पीड़ा को। जान बूझकर उत्पन्न करता है उन्हें, जानबूझकर प्रवेश करता है उनमें। और तो सर्व आवश्यकतायें व इच्छायें पहले ही त्याग चुका है वह, केवल एक आवश्यकता शेष रह गई है उसकी, और वह है भोजन सम्बन्धी। इसलिये उसके सर्व ही संस्कार आज एकत्रित होकर इस ही दिशा में अपना बल दिखा सकते हैं, और वह योगी भी इसी के आधार पर सर्व अभिलाषाओं के संस्कार-विच्छेद सम्बन्धी पुरुषार्थ कर सकता है। अतः भोजन की मुख्यता से इन तपों का वर्णन किया जायेगा यहाँ, पर इसका यह अर्थ नहीं कि ये भोजन-सम्बन्धी अभिलाषाओं पर ही लागू होने वाले हैं। प्रत्येक अभिलाषा पर यथायोग्य रूप से लागू करके हम उस-उस जाति के संस्कारों का विच्छेद कर सकते हैं। जैसे कि 'योगी का आहार छोड़कर उपवास करना' और इसी प्रकार आप यदि कर सकें तो 'एक-दिन या कुछ महीनों के लिए अपना धनोपार्जन छोड़कर लोभ या वित्तेषणा के त्यागरूप उपवास करना' एक ही बात है। पहले से छूटती है भोजन की अभिलाषा और दूसरे से छूटती है धन की अभिलाषा। इस प्रकार किसी भी दिशा में लागू किये जा सकते हैं ये तप के भेद।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(१) भोजन-ग्रहण की अभिलाषा-सम्बन्धी संस्कार को तोड़ डालते हैं वे योगीजन, एक दिन, दो दिन, दस दिन अथवा महीनों-महीनों तक के उपवास धारण कर-करके। (वज्रवृषभनाराच-संहनन वाले शरीरधारी योगी वर्षभर का भी उपवास कर सकते हैं) उपवास के दिनों में जल की एक बूँद भी ग्रहण नहीं करते और बराबर शान्ति में स्थिर बने रहते हैं वे। उपवास नाम भोजन मात्र के त्याग का नहीं बल्कि है, 'उप' अर्थात् निकट में 'वास' करने का नाम अर्थात् अपनी आत्मा अथवा शान्ति के निकट में वास करने का नाम उपवास है। भोजन छोड़कर व्याकुल हो जाये और दिन बीतने की प्रतीक्षा करने लगे कि कब दूसरा दिन आये और मुझे भोजन मिले, तो उपवास नहीं कहते। अत: योगीजन उपवास के समय भोजनपान न मिलने पर शान्ति से च्युत नहीं होते और इस प्रकार तोड़ डालते हैं क्षुधा से पीड़ित कर देने वाले संस्कार को। क्षुधा हो तो हो पर वे अपने बल के आधार पर उसे गिनते ही नहीं अर्थात् उपयोग के शान्ति में स्थिर रहने के कारण उस ओर लक्ष्य देते ही नहीं। यह है बाह्य-तप का पहला भेद **'अनशन'**।

(२) दूसरा संस्कार है वह जो कि प्राप्त वस्तु का किसी कारणवश कदाचित् उपयोग न कर पाने पर चित्त में एक विशेष प्रकार की गृद्धता का वेदन जागृत कर देता है। जैसे कि दुकान बिल्कुल न खोलना तो आप कदाचित् स्वीकार कर लें, परन्तु किसी ग्राहक को आधा सौदा देकर, दुकान में होते हुए भी शेष आधा सौदा जिसमें साक्षात् लाभ होने वाला है, किसी कारणवश देने से इन्कार कर दें। बिल्कुल न बेचने से आधा बेचना अखरता है। इसी प्रकार बिल्कुल न खाने से अल्पमात्र ही खाकर छोड़ देना कठिन है। योगीजन इस संस्कार का मूलोच्छेद करते हैं, पहले आधा पेट भोजन ग्रहण करके, फिर क्रम से एक-एक ग्रास कम करते हुए केवल एक ग्रास मात्र में सन्तोष धारण करके और आगे भी उस ग्रास को कम करते-करते केवल एक चावल मात्र का ग्रहण करके। अत्यन्त अल्प यह भोजन या एक चावल वे इसलिए नहीं लेते कि क्षुधा में कोई अन्तर डाल देगा, बल्कि इसलिए लेते हैं कि क्षुधा के साथ-साथ अल्प-ग्रहण में पीड़ा की प्रतीति कराने वाला संस्कार टूट जाय। इस तप के द्वारा युगपत् दो संस्कार जीते जा रहे हैं—एक क्षुधा में पीड़ा को प्रतीति कराने वाला और दूसरा अल्प-ग्रहण में गृद्धता की प्रतीति कराने वाला। इसका नाम है **'अवमौदर्य या ऊनोदरी'** तप।

(३) किसी वस्तु की प्राप्ति या अप्राप्ति के सम्बन्ध में भले उस समय तक साम्यता बनी रहे जब तक कि उसकी प्राप्ति की आशा नहीं हो जाती परन्तु प्राप्ति की आशा हो जाने पर भी ग्रहण न करे और साम्यता बनी रहे यह बहुत कठिन है। इस संस्कार को वे योगी तोड़ते हैं। कुछ अटपटी सी बात विचार लेते हैं वे, ऐसी कि जिसका पूरा होना बहुत कठिन है, और उसे अपने मन में ही रख लेते हैं वे। स्पष्ट रूप से अथवा किसी बहाने से वचन के द्वारा या किसी शारीरिक संकेत के द्वारा या किसी भी अन्य क्रिया के द्वारा अपने उस अभिप्राय को किसी पर भी, यहाँ तक कि अपने शिष्य पर भी प्रकट नहीं करते वे। यह अभिप्राय अकस्मात् ही काकतालीय न्यायवत् पूरा हो जाए तो आहार ग्रहण करेंगे अन्यथा नहीं, जैसे कि 'आज सर्प मिलेगा तो आहार ग्रहण करेंगे, नहीं तो नही।' किसी को क्या पता कि इनके मन में क्या है ? श्रावक लोगों को अपने-अपने द्वार पर प्रतिग्रह (स्वागत) के लिए खड़ा देखते हैं, पर अपनी प्रतिज्ञा पूरी होते न देखकर मौन पूर्वक लौट आते हैं बिना आहार लिये, जबकि सबकी भावना यह थी कि किसी प्रकार ये मेरे घर आहार कर लें तो मेरा जीवन सफल हो जाए। वे बेचारे कुछ नहीं जान पाते कि योगी क्यों लौट गए हैं। इस प्रकार बराबर महीनों तक नगर में आहारार्थ आते हैं और लौट जाते हैं; न प्रतिज्ञा पूरी होती है और न आहार लेते हैं। किसी को क्या पता कि क्या प्रतिज्ञा की है इस योगी ने, पता हो तो एक सपेरे को ही ला बिठायें अपने घर के सामने ? योगी अपनी साम्यता की परीक्षा करते रहते हैं कि प्रतिज्ञा पूरी न होने पर कुछ विकल्प तो नहीं आ रहे हैं ? यदि आते हैं तो कड़ी आलोचना द्वारा उन्हें दबाते हैं। 'मिले तो अच्छा न मिले तो अच्छा, दोनों ही बराबर हैं' ऐसे अभिप्राय पर बराबर दृढ़ बने रहते हैं और इस प्रकार क्षुधा के साथ-साथ इस तीसरे संस्कार को भी तोड़ डालते हैं वे। यह है तृतीय तप **'वृत्ति परिसंख्यान'**।

(४) भोजन के विकल्प-सम्बन्धी एक चौथा संस्कार भी है, और वह है स्वाद की दिशा का झुकाव। भोजन करते समय क्षुधा-निवृत्ति का प्रयोजन तो प्राय: याद भी नहीं रहता, केवल स्वाद लेने मात्र की ओर लक्ष्य चला जाता है और खाने

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

लगता है उसे खूब स्वाद ले-लेकर। स्वाद लगे तो हर्ष, न स्वाद लगे तो विषाद। इस दुष्ट संस्कार के प्रति बड़े सावधान रहते हैं वे ज्ञानी। आज से नहीं गृहस्थ दशा में पहले पग से ही वे इस प्रबल संस्कार के साथ लड़ते चले आ रहे हैं। अनेकों बार पहले भी इसके सम्बन्ध में संकेत किया जा चुका है, परन्तु इस योगी ने इसे निर्मूल करने का दृढ़ संकल्प किया है। स्वाद की मुख्यता मनुष्य के भोजन में प्राय: छ: पदार्थों से बनती है जिन्हें 'षट्-रस' कहते हैं—नमक, मीठा या शक्कर, घी, तेल, दूध, दही। ये छ: रस ही भोजन को स्वादिष्ट बनाया करते हैं। इनमें से कोई एक न हो तो स्वाद ठीक नहीं बैठता, और दो तीन आदि यहाँ तक कि छहों से रहित भोजन तो घास के समान लगने लगता है। बस योगी महीनों व वर्षों के लिए इनमें से किसी एक या दो या छहों का त्याग कर देते हैं। जब कभी आहार लेने की आवश्यकता पड़े तब घासवत् भोजन करके इस खड्डे को भर लेते हैं, और इस प्रकार रस-गृद्धि के संस्कार को जीत लेते हैं वे।

इस 'रसपरित्याग' का ऐसा विकृत रूप नहीं है जैसा कि आज देखने में आता है। एक रस को छोड़कर अन्य रस में गृद्धता हो जाने से वह रस जीता नहीं जा सकता; जैसे नमक के त्याग में मीठे पदार्थों का भोजन कर लेना, और मीठे के त्याग में नमकीन पदार्थों का, अथवा शक्कर के मीठे त्याग में मुनक्का का मीठा बनाकर प्रयोजन सिद्ध कर लेना और दूध के त्याग में बादामों का दूध बनाकर। इस प्रकार एक पदार्थ की बजाए दूसरे पदार्थ का ग्रहण रसत्याग नहीं कहा जा सकता, क्योंकि नीरस में जो अरुचि है उसका परित्याग नहीं किया जा सका है, भोजन को जिस किस प्रकार भी रसीला बनाने का ही प्रयोजन रहा है। अत: रसपरित्याग उसे कहते हैं कि नमक के त्याग में अलोना ही खाये और मीठे के त्याग में मुनक्का आदि का प्रयोग न करे, दूध भी फीका ही पी ले, इत्यादि। सच्चे योगी कृत्रिमता नहीं किया करते, उनका त्याग या तप दूसरों को दिखाने के लिए नहीं अपने हित के अर्थ तथा संस्कारों को तोड़ने के अर्थ होता है। यह है भोजन सम्बन्धी चौथा तप, **'रस-परित्याग'**।

यद्यपि उपरोक्त तपों का वर्णन योगियों की अपेक्षा उत्कृष्ट रूप से दर्शाया गया है, परन्तु इससे यह अर्थ न लेना कि योगी लोग इतने उत्कृष्ट प्रकार के ही तप धारण करते हैं। जैसे गृहस्थ दशा में शक्ति की अपेक्षा रखते हुए धीरे-धीरे बढ़ना होता है परन्तु अभिप्राय में उत्कृष्टता रहती है; वैसे ही यहाँ भी शक्ति की अपेक्षा रखते हुए ही धीरे-धीरे बढ़ना होता है परन्तु अभिप्राय में उत्कृष्टता रहती है। योगी भी अपनी प्रारम्भिक अवस्था में इन तपों को जघन्य रूप से ही पालता है और गृहस्थ भी यदि चाहे तो अपनी शक्ति के अनुसार उनको पालने का अभ्यास कर सकता है।

(५) जन-सम्पर्क में आने पर, अनेकों इधर-उधर की व्यर्थ बातें, देश-विदेशों के पारस्परिक युद्ध, नवीन-नवीन वैज्ञानिक खोजों के समाचार, चोरों व अपराधियों की कथायें, स्त्रियों की सुन्दरता आदि की चर्चायें, किसी की निन्दा और किसी की प्रशंसा, इत्यादिक अनेक कथा-कलाप की ओर क्यों मेरा चित्त आकर्षित होता है? अधिक देर तक अकेला बैठा रहने में क्यों दम सा घुटने लगता है? यह कुछ ऐसा संस्कार है जिसको तोड़े बिना अबाधित शान्ति को बनाये रखना असम्भव है। योगीजन इस संस्कार को तोड़ने के लिए जन-सम्पर्क से बचते हैं और एकान्त में वास करते हैं। किन्हीं गहन वनों में, पहाड़ की कन्दराओं में, वृक्ष की कोटरों में, किसी सूने-घर में या खण्डहरों में वास करते हैं ताकि कोई उनके पास आने न पाये। उन्हें यह पता है कि शान्ति के मार्ग से अपरिचित बेचारे लौकिक जनों के पास उपरोक्त बातें करने के सिवाय और है ही क्या? व्यर्थ समय गवाँना है उनके साथ बातें करके तथा अनेकों विकल्प खड़े हो जाते हैं उनकी बातें सुनकर। विकल्पों से बचने के लिए तो घर छोड़ा और फिर वही विकल्प यहाँ इस दूसरे मार्ग से प्रवेश करने लगे। योगीजन कैसे सहन कर सकते हैं इस अपनी महान हानि को? यही है **'विविक्त-शय्यासन'** नामका पाँचवाँ तप।

(६) इनके अतिरिक्त और भी एक संस्कार है। क्षुधा-तृषा सम्बन्धी अन्तरंग बाधा के अतिरिक्त शरीर पर बाहर से आघात पहुँचाने वाली भी अनेकों बाधायें हैं—गर्मी की बाधा, सर्दी की बाधा, डांस, मच्छर, मक्खी, भिर्र, ततैये की बाधा तथा सिंहादि क्रूर पशुओं तथा दुष्ट मनुष्योंकृत अनेकों प्रकार की असह्य बाधायें। इनके अतिरिक्त भयानक शब्दों तथा भयानक दृश्यों से भय खाने की बाधा, एक आसन पर अधिक देर तक बैठे रहने की बाधा इत्यादि और भी अनेकों बाधायें हैं। कहाँ तक गिनायें? कदाचित् दुर्भाग्यवश इन बाधाओं के आ पड़ने पर, इतनी शक्ति मुझमें कहाँ कि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

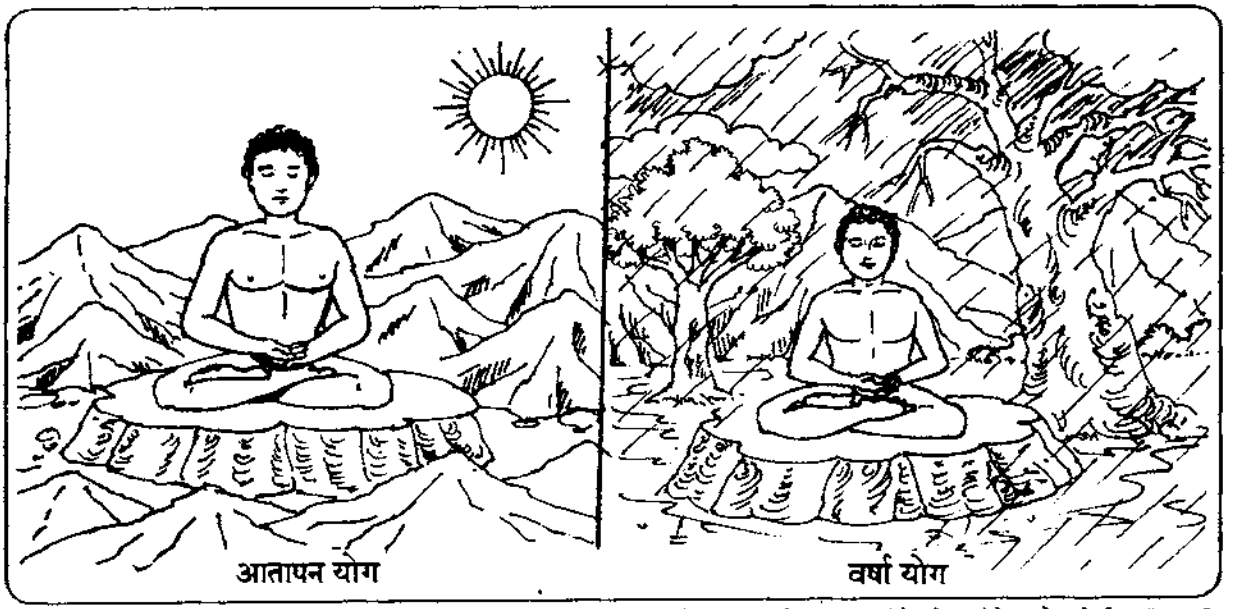

शान्ति को स्थिर रख सकूँ। यद्यपि यह जानता हूँ कि इन बाधाओं से शरीर को हानि पहुँचे तो पहुँचे मुझे कोई हानि नहीं पहुँच सकती क्योंकि मैं तो चैतन्य व शान्तिमूर्ति, अविनाशी व अविकारी, अमूर्तिक पदार्थ हूँ, इनमें से किसी बाधा में भी मुझे स्पर्श करने की सामर्थ्य नहीं; तदपि इस विश्वास को जीवन में उतारने के लिए अपने को असमर्थ पा रहा हूँ। कोई भी एक संस्कार ऐसे अवसर पर जबरदस्ती मेरे उपयोग को शान्ति से हटाकर इन बाधाओं में उलझा देता है। मैं बजाये शान्ति के करने लगता हूँ पीड़ा का वेदन और कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य को भूल बैठता हूँ।

योगीजन इस दुष्ट संस्कार का निर्मूलन करने केलिए आज अपना पराक्रम दिखाने निकले हैं। स्वतः ही वे बाधायें आयें, इनकी प्रतीक्षा किए बिना स्वयं जान-बूझकर इन बाधाओं में प्रवेश कर जाते हैं वे या नवीन बाधायें उत्पन्न कर लेते हैं वे, और वहाँ उस अत्यन्त प्रतिकूल वातावरण में रहकर अभ्यास करते हैं शान्ति में स्थिरता रखने का। अनुकूल वातावरण में तो स्थिर रह सकते थे पर प्रतिकूल-में स्थिर रहें तब मज़ा है, और इसलिए बैठ जाते हैं ज्येष्ठ की अग्नि बरसाती धूप में पर्वत के शिखर पर जहाँ शिलाएँ मानो अंगारे ही बनी पड़ी हों, और बैठे रहते हैं या खड़े हो जाते हैं घण्टो-घण्टों के लिए उस अग्नि में अडिग। इस प्रकार के आतापन योग द्वारा खण्ड-खण्ड कर देते हैं वे गर्मी में बाधा पहुँचाने वाले संस्कार को। इसी प्रकार पौष की तुषार बरसाती रातों में सारी-सारी रात नदी के तीर पर खड़े हुए ध्यानमुद्रा धारण करके सर्दी में बाधा पहुँचाने सम्बन्धी संस्कार को तोड़ डालते हैं वे । मूसलाधार बरसात में वृक्ष के नीचे बैठ जाते हैं वे। पत्तों पर गिरने के कारण और भी अधिक बिखरी हुई बौछाड़ों में, घण्टों शान्ति में स्थिर बैठे रहकर बरसात में बाधा पहुँचाने सम्बन्धी संस्कार को भी तोड़ डालते हैं वे। बरसात की रातों में वृक्ष के नीचे योग धारण करके मच्छरों की बाधा सम्बन्धी संस्कार को उखाड़ फैंकते हैं वे। एक ही आसन पर कई-कई पहर खड़े रहकर या बैठकर ध्यान करने वाले उस योगी को देखकर काँप उठता है स्थिरासन में अस्थिरता उत्पन्न करने वाला संस्कार या उसमें पीड़ा का वेदन कराने वाला संस्कार, और मापता ही दिखाई देता है अपना मार्ग।

सिंह की गर्जनाओं, हाथी की चीत्कारों, गीदड़ों की चीख-पुकारों, अजगरों की फुंकारें, प्रलयकाल की आँधीवत् तीव्र पवन के झोंकों से टूट-टूट कर गिरने वाले वृक्षों की गड़गड़ाहटों, पत्तों की सरसराहटों, दिशाओं से आने वाली सायें-सायें की दिल दहला देने वाली आवाजों, आँधी से ताड़ित नदियों में क्रुद्ध नागोंवत् उछलती हुई जल की कल्लोलों के कारण वातावरण ने मानो अत्यन्त रौद्र रूप धारण किया है। ऐसे महा भयानक व विकट-वनों में दिन-रात ध्यानस्थ रहने वाले उन पराक्रमी योगियों के सामने भय के संस्कार का क्या बस चले ? इसी प्रकार अन्य भी अनेकों

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रकार लोक की बड़ी से बड़ी बाधा को जानबूझकर निमन्त्रित करते हैं वे और भिड़ जाते हैं उनके साथ। यही है बाह्य-तपों में सबसे अधिक विकट **'कायक्लेश'** नामवाला छटा तप।

३. षड्विध आभ्यन्तर तप—अन्तरंग में नित्य नये-नये रूप धारण करके उठने वाले विकल्पों के प्रति भी ग़ाफ़िल नहीं हैं वे। उनका मूलोच्छेद करने के लिए जागृत स्वामी की तरह सदा सावधान रहते हैं वे :—

(१) तनिक सी भी राग या द्वेष सूचक कोई आहट अन्दर में मिली कि ललकारा तुरन्त उन्होंने उसे। दौड़ पड़े लेकर हाथ में निन्दन तथा गर्हण की तलवार, इस आशंका से कि घुस गया घर में कोई चोर। बेचारे इन चोरों के प्राण तो वैसे ही सूखते हैं इनके घर में प्रवेश करते हुए, यदि कोई भूला-भटका घुस भी जाए तो फिर क्या था, धर दबाया उसे और लगे प्रायश्चित तथा दण्ड के कोड़े बरसाने उसकी कमर पर। उधेड़ दी उसकी चमड़ी, निकाल दिये उस बेचारे के प्राण, न रहेगा बाँस और न बजेगी बाँसुरी। अर्थात् अन्तरंग में कोई भी खोटा परिणाम उत्पन्न हो जाने पर स्वयं तो आत्मग्लानि पूर्वक अपने को धिक्कारते ही हैं, इसका अभ्यास तो गृहस्थ दशा से ही करते आ रहे हैं, परन्तु अब तो गुरु के समक्ष जाकर भी इसका भाण्डा फोड़ देते हैं वे, और किसी रोगी को कुशल वैद्य द्वारा दी गयी औषधि की भाँति बड़े उत्साह से सहर्ष तथा अपना सौभाग्य समझते हुए ग्रहण करते हैं उनके द्वारा दिये गये दण्ड या प्रायश्चित को; कभी महीनों-महीनों के उपवास, कभी सारी-सारी रात निश्चल ध्यान, कभी गर्मी की धूप में अथवा सर्दी की रातों में खुले आकाश के नीचे आतापन व शीत योग, कभी दीक्षा-छेद और इसी प्रकार अन्य भी अनेकों शारीरिक तथा मानसिक पीड़ाओं का सहर्ष आलिङ्गन। कभी-कभी तो अपने संघ को छोड़कर वर्षों तक रहना स्वीकार कर लेते हैं वे किसी दूसरे आचार्य के संघ में जहाँ उनकी बात भी पूछने वाला कोई नहीं। कौन जाने वहाँ यह कि कोई बड़े भारी विद्वान् हैं ये अथवा विशेष तपस्वी हैं ये, बड़ा भारी सम्मान है इनका अपने संघ में ? अभिमान का खण्ड-खण्ड हो जाता है इस मार से। इस प्रकार दोषों के अनुसार यथोचित प्रायश्चित लेकर अन्तरंग के दोषों का शोधन करना है **'प्रायश्चित'** नाम का प्रथम आभ्यन्तरतप। इसका अभ्यास करने के लिए आवश्यकता होती है चार बातों की—१. अपने परिणामों को ठीक-ठीक पढ़ने का अभ्यास, २. दिनभर या रात्रि को स्वप्नादि में उत्पन्न हुए विभिन्न परिणामों का हिसाब-पेटा, ३. गुरु-साक्षी पूर्वक उनके प्रति निन्दन और, ४. पुनः न करने की प्रतिज्ञा। इनका भी थोड़ा सा परिचय यहाँ दे देना आवश्यक है।

अनेकविध ऐषणाओं का तथा कषायों का वास है अन्तरंग के इस चिदाभासी अथवा मानसिक जगत में; पुत्रेषणा, वित्तेषणा, लोकेषणा, क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, ग्लानि, मैथुन सेवन का भाव, राग, द्वेष और न जाने क्या-क्या; कुछ स्थूल और कुछ सूक्ष्म, इतने सूक्ष्म कि बहुत अधिक बुद्धि लगाने पर भी जानने में न आवें। अन्दर में उत्पन्न होने वाला कोई विवक्षित परिणाम इनमें से किस जाति का है, यह जान लेना ही है **'परिणामों को पढ़ने का अभ्यास।'**

अब लो दूसरी बात, 'परिणामों का हिसाब-पेटा।' जिस प्रकार एक व्यापारी साँझ को बैठकर दिन में हुए लेन-देन का अथवा लाभ-हानि का हिसाब-खाता मिलाता है, उसी प्रकार प्रातः उठने के पश्चात् से लेकर अब तक 'मैं कहाँ-कहाँ गया, किस-किस से मिला, किस-किस प्रकार किस-किस भाव से अथवा किस-किस कषाय से, क्या-क्या बातें मैंने उनसे कीं' इत्यादि सब बातों का हिसाब-पेटा साँझ को बैठकर मिलाना। भले ही सब बातें अथवा सूक्ष्म भाव स्मृति के विषय न बन पावें, परन्तु जितने भी अधिक से अधिक बन पावें उन सबको अपने समक्ष रखकर चिन्तवन करना कि 'मैंने यह कार्य क्यों किया', 'मैं बड़ा कृतघ्नी हूँ' 'कैसे होगा अब इस दोष का शोधन', 'कब कर पाऊँगा इसे दूर', 'हे प्रभु ! रक्षा करो मेरी इन अपराधों से', 'शक्ति दो मुझे कि पुनः न हो पावें मुझसे ऐसे कार्य फिर कभी', इत्यादि। यही है—**'परिणामों का हिसाब-पेटा', 'आत्म-निन्दन' तथा 'पुनः न करने की प्रतिज्ञा।'**

तीसरी बात है **'गुरु की साक्षी।'** यद्यपि यह सब कार्य आप अपनी दुकान या मकान पर अकेले बैठे भी कर सकते हो, परन्तु किसी अन्य के समक्ष अपने दोषों को कहने में तथा उनके प्रति आत्मग्लानि प्रकट करने में क्योंकि अधिक बल लगाना पड़ता है इसलिए ऐसा करने से दोषों का शोधन जल्दी हो जाता है, और यदि वह अन्य व्यक्ति

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सौभाग्यवश गुरुदेव ही हों तब तो कहने ही क्या, सोने पर सुहागा। जिस-किसी साधारण व्यक्ति के समक्ष तो यह कार्य किया भी नहीं जा सकता, क्योंकि ऐसा करने से व्यर्थ की लोक-निन्दा के अतिरिक्त और मिलता ही क्या है? दुर्भाग्यवश गुरुसम्पर्क प्राप्त न हो तो मन्दिर में भगवान तो हैं, उनके समक्ष ही सही, अकेले में करने की अपेक्षा तो यह अच्छा है ही। गुरु की या भगवान की साक्षी में ली गयी प्रतिज्ञायें प्रायः भंग नहीं होतीं, जबकि अकेले में ली गई प्रतिज्ञाओं में इतना बल नहीं होता। यह क्रिया साँझ, सवेरे दोनों समय करें तो बहुत अच्छा है, अन्यथा साँझ को तो अवश्य करनी ही चाहिए क्योंकि रात की अपेक्षा दिन में दोष अधिक होते हैं तथा उन्हें स्मृति का विषय भी बनाया जा सकता है।

अन्तरंग के इन दोषों से अपनी रक्षा करने के लिए ही साधुजन प्रायः गुरु या आचार्य की शरण में निर्भय रहते हैं। जैसे शारीरिक रोगों का निदान करने में वैद्य समर्थ है, उसी प्रकार आत्मिक रोगों का अर्थात् जीवन में लगे अनेक दोषों की सूक्ष्म दृष्टि से खोज करने में आचार्य-प्रभु समर्थ हैं। जिस प्रकार शारीरिक रोग के प्रशमनार्थ खूब सोच-समझकर उस रोग के अनुसार वैद्य औषधि देता है, उसी प्रकार खूब विचार कर उस-उस आत्मिक दोष के प्रशमनार्थ उसी के अनुसार आचार्य-प्रभु शिष्यों को प्रायश्चित्त देते हैं। जिस प्रकार एक ही रोग होते हुए भी रोगी की शक्ति की हीनाधिकता के कारण वैद्य हीनाधिक मात्रा में औषधि देता है, अर्थात् बालक को कम-बड़े को अधिक, दुर्बल को कम-हृष्ट-पुष्ट को अधिक, उसी प्रकार एक ही दोष होते हुए भी दोषी-शिष्य की शक्ति की हीनाधिकता के कारण आचार्य हीनाधिक प्रायश्चित्त देते हैं। जिस प्रकार हीनाधिक औषधि देने में वैद्य को किसी से प्रेम और किसी से द्वेष कारण नहीं है, उसी प्रकार हीनाधिक प्रायश्चित्त देने में आचार्य को किसी से राग और किसी से द्वेष कारण नहीं है। जिस प्रकार कड़वी भी औषधि रोगी के हितार्थ होने के कारण अमृत है, उसी प्रकार कड़ा भी प्रायश्चित्त शिष्य के अन्तर्शोधन का कारण होने से अमृत है। जिस प्रकार कड़वी भी औषधि को रोगी स्वयं वैद्य के पास जाकर ज़िद करके लाता है, उसी प्रकार कड़े से कड़ा प्रायश्चित भी शिष्यजन स्वयं आचार्य के पास जाकर ज़िद करके लेते हैं। जिस प्रकार रोगी औषधि में अपना हित समझता है, उसी प्रकार शिष्य भी प्रायश्चित्त में अपना कल्याण देखते हैं, उसे दण्ड नहीं समझते, बड़े उत्साह से अपना सौभाग्य समझते हुए ग्रहण करते हैं तथा अपने जीवन को उस प्रायश्चित्त के द्वारा स्वयं दण्डित करते हैं।

(२) दूसरा आभ्यन्तर तप है **'विनय'**, शान्ति-नगर की यात्रा का प्रथम सोपान जिसका देव पूजा गुरु-उपासना और स्वाध्याय के प्रकरणों में कथन किया जा चुका है, जिसके बिना इस दिशा में एक पग भी आगे रखा जाना सम्भव नहीं। इसके बिना न उपलब्धि हो सकती है देव की, न गुरु की और न उनके दिव्योपदेश की। अभिमानी बनकर कौन उपलब्ध कर सकता है कुछ? भले समझता रहे वह अपने घर में बैठा अपने को महान्, पर जानते हैं जानने वाले कि तुच्छ है बेचारा। चाहे हो वित्ताभिमानी, चाहे रूपाभिमानी, चाहे बलाभिमानी, चाहे ज्ञानाभिमानी, और चाहे तपाभिमानी; सब हैं तुच्छ, पतन के पात्र। नयी कुछ उपलब्धि तो दूर, जो लेकर आये हैं पूर्व भवसे वे अपने साथ, उसे भी गँवा देते हैं वे। न हो सकता है उनका कोई देव, न गुरु और न अपने अतिरिक्त कोई आदर्श। अपने से अधिक दीखता ही नहीं उन्हें कुछ, हो तो कैसे हो? मैं किसी से कुछ प्राप्त करना चाहूँ और खड़ा हो जाऊँ उसके सामने उद्दण्ड की भाँति; न नमन, न नम्रता, न सेवा, तो क्या कुछ ले सकता हूँ उससे?

स्कूल के गुरु की विनय न करे तो क्या सीखे? इसीलिए आज के विद्यार्थी स्कूल से उतना कुछ सीखकर नहीं निकलते जितना कि पहले के विद्यार्थी सीखकर निकला करते थे, क्योंकि आज गुरु की विनय युवकों में उतनी नहीं रही है। रावण मृत्यु शैयापर पड़ा था, भगवान राम ने लक्ष्मण से कहा "भाई! जाओ इस अन्तिम समय में रावण से कुछ सीख लो, जीवन में तुम्हारे काम आयेगा, वह बड़ा अनुभवी पण्डित है। यदि नहीं सीखोगे तो समस्त विद्यायें उसके साथ ही चली जायेंगी।" लक्ष्मण गया और रावण के सिरहाने खड़ा होकर अपना अभिप्राय प्रकट किया। उसे मौन देखकर निराश वापिस लौट आया और राम से बोला कि "भगवन्! वह बड़ा अभिमानी है, बोलता नहीं।" राम बोले "भूलता है, लक्ष्मण! अभिमानी वह नहीं तू है, स्वभाव से ही तू उद्दण्ड है, तूने अवश्य उद्दण्डता दिखाई होगी, वह कैसे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बोले ? तुझे अगर कुछ सीखना है तो विजेता बनकर नहीं दास बनकर सीखना होगा। जाओ ! उसके चरणों में बैठकर विनयपूर्वक विनती करो, उसे गुरु स्वीकार करो।" लक्ष्मण की आँखें खुल गईं, गया और अब की बार निराश नहीं लौटना पड़ा उसे।

इस प्रकार चोर से कहा राजा ने कि तुझे सूली पर चढ़ाया जाने वाला है, परन्तु सूली पर चढ़ने से पहले तू अपनी विद्या मुझे दे दे। राजा हूँ न मैं, सभी महान् वस्तुओं का अधिकारी ? बता दी चोर ने सारी विद्या पर राजा न सीख पाया कक्का भी। चोर ने कहा कि राजा हैं आप इसमें सन्देह नहीं, सभी भौतिक धन के स्वामी हैं आप इसमें सन्देह नहीं, परन्तु राजा या अधिकारी बनकर विद्या नहीं सीखी जाती भगवन् ! यह है आध्यात्मिक-धन जिसका अधिकारी राजा नहीं शिष्य होता है, विनम्र शिष्य। खुल गई राजा की आँखें छोड़कर मुकुट व सिंहासन उतर आया नीचे, अति विनय से बैठाया चोर को अपने स्थान पर। अब वह चोर नहीं था उसके लिये, था उसका विद्या-गुरु, उसका उपास्य। अत्यन्त भक्ति तथा बहुमान से प्रक्षालन किया उसके चरणों का और मस्तक पर चढ़ा लिया वह चरणोदक। देर नहीं लगी अब उस राजा को विद्या सीखते हुए, राजा को नहीं शिष्य को, चोर के विनम्र शिष्य को। भील ने भी सीखी थी धनुर्विद्या गुरु-द्रोण की प्रतिमा से, प्रतिमा से नहीं साक्षात् गुरु से, शिष्य बनकर, सच्चा शिष्य बनकर, अर्जुन से भी अधिक विनम्र; और इसी लिए मात कर दिया अर्जुन को भी उसने, शर्मा दिया अर्जुन की भी विद्या को उसने। यह सब है 'विनय' का माहात्म्य

सौभाग्य है मेरा कि मुझे प्राप्त हुआ है यह महारत्न-चिन्तामणि, गुरुकृपा से, गुरुकृपा प्राप्त करने की कुञ्जी। गुरु ही प्राप्त हो गए तो फिर रह क्या गया ? वे ही हैं सब कुछ, भगवान से भी महान्। परन्तु क्या यह महारत्न अकस्मात् उपलब्ध हो गया था मुझे ? नहीं दूर से देखी थी इसकी कुछ आभा मैंने उस समय जब कि बच्चा सा था मैं। नित्य प्रायः नमस्कार करता था झुककर, पहले माता के चरणों में और फिर पिता के चरणों में। वे ही तो थे मेरे भगवान उस समय, मेरे जीवन, मेरे सर्वस्व। उनके इशारे पर चलता था मैं, उनकी एक-एक आज्ञा का पालन करता था मैं, उनके खड़े होने पर खड़ा हो जाता था मैं, उनके चलने पर उनके पीछे-पीछे चलता था मैं, उनके पधारने पर उन्हें आसन देता था मैं। इसी प्रकार विद्यार्जन के क्षेत्र में अपने गुरुजनों के प्रति, और सामाजिक क्षेत्र में वृद्धजनों के, गुणीजनों के तथा सुप्रतिष्ठित-जनों के प्रति भी। उस अभ्यास का ही तो प्रताप है यह कि कृतकृत्य हुआ जा रहा हूँ आज मैं गुरुचरण-शरण को प्राप्त करके। अब मुझे क्या चिन्ता। कोई संस्कार पर नहीं मार सकता यहाँ। किसका साहस कि गुरुदेव के समक्ष जाए ?

इनकी ही कृपा से प्राप्त है मुझे यह शान्ति तथा समता, महानतम उपलब्धि, जगत की बड़े से बड़ी विभूति भी रखी नहीं जा सकती जिसके पासंग में। कैसे गाऊँ मैं इसकी महिमा, कैसे करूँ मैं इसका स्तवन, इस महानतम उपलब्धि का, शब्द हैं ही कहाँ मेरे पास, और हों भी तो उनमें शक्ति ही कहाँ है ऐसा करने की ? जड़ शब्दों में हार्दिकता कहाँ ? मैं स्वयं जानता हूँ इसकी महिमा, स्वयं ही रसपान करता हूँ इसका और स्वयं ही लेट जाता हूँ इसके चरणों में। इस प्रकार अपनी महान आध्यात्मिक उपलब्धियों के प्रति का बहुमान है **पारमार्थिक विनय**, निश्चय विनय; और उनके निमित्तभूत देव के प्रति का, सद्गुरु के प्रति का, सरस्वती माँ या शास्त्र के प्रति का, माता के प्रति का, पिता के प्रति का, विद्यागुरु के प्रति का, वृद्धजनों के प्रति का, गुणीजनों के प्रति का तथा सुप्रतिष्ठित जनों के प्रति का बहुमान है **व्यवहारिक विनय**, कारण में कार्यरूप औपचारिक विनय, कुछ साधु के योग्य और कुछ गृहस्थ के योग्य। नमन, वन्दन, स्तवन, पाद-प्रक्षालन, अर्घावतारण आदिरूप सभी क्रियायें इसमें सम्मिलित हैं। परन्तु व्यक्ति की भूमिकानुसार इन सब क्रियायों में अन्तर होना स्वाभाविक है।

शान्ति के इस सरल मार्ग पर बराबर कुछ पथिक चले जा रहे हैं, कुछ तेजी से और कुछ धीमे, कुछ आगे और कुछ पीछे। बहुत-कुछ आगे निकल चुके हैं, मानो क्षितिज को भी पार कर गये हैं, जिन पर आज मेरी दृष्टि भी नहीं पड़ती; और कुछ मेरे निकट में ही थोड़ा आगे बढ़े चले जा रहे हैं। अपरिचित मार्ग में चलने वाले इन पथिकों को स्वाभाविक रूप में ही अपने से आगे-वाले के प्रति कुछ बहुमान सा जागृत हो जाता है जो कृत्रिम नहीं होता। किसी की प्रेरणा से नहीं बल्कि स्वयं आगे बढ़ने की जिज्ञासा में-से अंकुरित हुए इस बहुमानवश, वह अपने से आगे वाले इस

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पथिक को डरते-डरते पुकार उठता है कि प्रभो ? तनिक ठहर जाओ, मेरा भी हाथ पकड़कर तनिक सहारा दे दो; पर उस बेचारे को क्या पता कि उस आगे वाले की भी ठीक यही दशा है। वह अपने आगे वाले को अपना हाथ पकड़ने के लिए प्रार्थना कर रहा है और वह तीसरा भी अपने आगे वाले चौथे को। प्रत्येक की पुकार में उसका अपना स्वार्थ छिपा है जिसके कारण कि उसको यह भी विचारने का अवकाश नहीं कि यदि उसकी प्रार्थना को सुनकर यह आगे वाला रुक जाए, या उसका हाथ पकड़ने के लिए पीछे मुड़कर देखने लगे तो कितना बड़ा अनिष्ट हो जायेगा उसका। इससे आगे वाला सम्भवतः इतनी ही देर में इतना आगे निकल जाये कि फिर वह दृष्टि में भी न आये, अथवा पीछे को देखते हुए और आगे चलते हुए उसको कोई ऐसी ठोकर लग जाए कि नीचे गिरकर उसका सर ही फट जाए।

पीछे व आगे वाले दोनों पथिकों को भी अपनी-अपनी क्रिया का फल मिलता है, पीछे वाले की क्रिया या पुकार का फल आगे-वाले को नहीं मिल सकता। अतः इसकी पुकार स्वयं इसके लिए तो अत्यन्त हितकर है, पर आगे वाले के लिए वह अहितरूप बननी सम्भव है। वह आगे वाला अपनी अल्प शक्ति को देखते हुए यदि अपनी रक्षा के लिए स्वयं पीछे मुड़कर न देखे तो उसे कोई बाधा नहीं पड़ सकती, परन्तु यदि कदाचित् किसी भी आवेश में पीछे मुड़कर देख ले तो प्रभु ही जानें कि क्या हो ? उसका सब किया कराया मिट्टी में मिल जाए। ठीक है कि आगे जाकर शक्ति बढ़ जाने पर उसमें इतनी दृढ़ता आ जाती है कि बड़े से बड़े प्रलोभन की ओर भी वह दृष्टि उठाकर नहीं देखता। परन्तु निम्न अवस्था में उसे अवश्य सावधानी रखकर चलना होता है। पीछे वाले का कर्त्तव्य है कि अपने लिए न सही, पर आगे-वाले के हित के लिए वह आवश्यकता से अधिक पुकार-पुकार कर उसे पीछे मुड़ने के लिए बाध्य करने का प्रयत्न न करे।

यह तो केवल दृष्टान्त हुआ। इसका तात्पर्य है ख्याति की भावनाओं का प्रशमन करना। उत्कृष्ट बल को प्राप्त साक्षात् गुरुओं के अभाव के कारण स्वभावतः शान्ति के जिज्ञासु भव्य जनों का बहुमान, दृष्टि में आने वाले उन तुच्छ जीवों की ओर बह निकलता है, जिनके जीवन में गुरुप्रसाद से किंचित्मात्र चिह्न शान्ति या शुचिता के उत्पन्न हो गए हैं। उस बहुमान के कारण उस तुच्छ जीव के प्रति नमस्कार आदि कुछ ऐसी क्रियायें करने लगते हैं जो अधिक शक्तिशाली व ऊँची भूमिका में स्थित जीवों के ही योग्य थीं। यद्यपि उनका यह बहुमान कृत्रिम नहीं और न ही किसी की प्रेरणा से उत्पन्न हुआ है, स्वयं उनके लिए यह हितकारी भी है, परन्तु उन्हें क्या पता कि इन क्रियाओं से उस छोटे से जीव का कितना बड़ा अहित हो रहा है, लोकेषणा के अंकुर का प्रिञ्जन हो रहा है ? यद्यपि किसी के ऊपर यह नियम लादा नहीं जा सकता, कि देखो जी अमुक व्यक्ति के प्रति बहुमान उत्पन्न न करना या नमस्कारादि न करना, परन्तु स्वपर के उपकारार्थ उनसे यथायोग्य करने की प्रार्थना अवश्य की जा सकती है, और यह बात उसे समझाई भी जा सकती है कि भले ही तेरा बहुमान व विनय सच्चा है, तेरे लिए हितकारी है, पर इस आगे वाले के लिए कथञ्चित् अहितकारी है। इसकी शक्ति अभी इतनी नहीं है कि इन क्रियाओं को देखकर उसमें लोकेषणा उत्पन्न न हो, अतः अपने लिए न सही पर इस आगे वाले के लिए तू इन क्रियाओं में कुछ कमी कर दे, इतनी कि तेरा भी काम चल जाए और इसके काम में भी बाधा न पड़े। इसलिए गुरुदेवों ने नमस्कारादि क्रियाओं-सम्बन्धी कुछ नियम बना दिए हैं कि साधु के प्रति साष्टांग नमस्कार के द्वारा, उत्कृष्ट श्रावक के प्रति चरणस्पर्श के द्वारा, तथा जघन्य व मध्यम श्रावक के प्रति यथायोग्य अंजलिकरण के द्वारा ही अपने-अपने बहुमान का प्रदर्शन करना योग्य है। ऊँचे के योग्य नमस्कार नीचे के प्रति करना योग्य नहीं।

(३) इन महान उपलब्धियों के प्रति इस प्रकार का हार्दिक बहुमान अथवा विनय जागृत हो जाने पर आप ही सोचिए कि क्या होगी मेरी दशा उस समय, जबकि कदाचित् दुर्भाग्यवश संस्कार के द्वारा प्रेरित हुआ मैं च्युत हो जाऊँगा अपनी उस स्थिति से अर्थात् शान्ति तथा समता से, और ढकेल दिया जाऊँगा विकल्प सागर में ? बिल्कुल उस चकोर सरीखी होगी उस समय मेरी दशा जो बड़े-बड़े अरमान हृदय में लिए, बड़े उत्साह के साथ उड़ानें भरता उड़ा जा रहा है आकाश मे, ऊपर ही ऊपर चन्द्रमा की ओर और कदाचित् दुर्भागयवश घायल होकर किसी व्याध के निर्दय वाण से, आ पड़े पृथ्वी पर तड़फता हुआ, फड़फड़ाता हुआ। क्या उस समय मैं भीतर ही भीतर यह प्रयत्न न करूँगा कि जिस-किस प्रकार हाथ पाँव

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मारकर मैं आ सकूँ इस विकल्प-सागर के तट पर, जहाँ खड़ी है शान्ति तथा समता-रानी मेरी प्रतीक्षा में; और क्या मेरा यह प्रयत्न कृत्रिम होगा ? सहज रूप से ही प्रकट हो जाएगा वह पुरुषार्थ मुझ में। इस प्रकार शान्ति व अशान्ति के, समता व विषमता के झूले में झूलते हुए मेरा प्रयत्न बराबर रहेगा यह कि किसी प्रकार में वहाँ से च्युत न होने पाऊँ, और कदाचित् दुर्भाग्यवश हो जाऊँ तो पूरा बल लगाकर प्रयत्न करूँ पुन: उसी स्थिति को प्राप्त करने का। यह है अपनी पारमार्थिक सेवा और यही है **'वैयावृत्त्य'** नाम वाला तृतीय आभ्यन्तर तप।

यह तो है पारमार्थिक या निश्चय वैयावृत्त्य, परन्तु इसके साथ-साथ क्या मैं शान्ति-नगर के प्रति यात्रा करने वाले अपने अन्यान्य साथियों की भी सेवा या वैयावृत्त्य में नहीं जुट जाऊँगा उस समय, जबकि वे भी मेरी ही भाँति च्युत कर दिये जायेंगे अपनी स्थिति से, संस्कारों के द्वारा ? अपने तन, मन, धन तथा जीवन किसी की भी चिन्ता नहीं होगी मुझे उस समय, बस होगी एक चिन्ता यह कि किसी प्रकार भी ये पुन: प्राप्त कर सकें अपनी पूर्व-स्थिति को, उस सोपान को जिस पर से कि ढकेल कर नीचे फेंक दिया गया है इन्हें विकल्प-सागर में। सद्गुरु देव की तो बात नहीं, उनके प्रति तो कर ही दूँगा मैं दिन रात एक, उनके अतिरिक्त अपने सहयात्रियों के प्रति भी कोई कसर उठा नहीं रखूँगा मैं, उसी प्रकार जिस प्रकार कि स्त्री-पुत्र आदि में से किसी के कदाचित् रोगग्रस्त हो जाने पर आप सब कुछ व्यापार धन्धा छोड़कर जुट जाते हैं उनकी सेवा में।

इतना ही क्यों, क्या अन्य साधारण व्यक्तियों के प्रति भी मैं अपने इस महाकर्त्तव्य को भूल जाऊँगा ? कोई भी क्यों न हों वे व्यक्ति—मनुष्य हों या हों पशु पक्षी, कौटम्बिकजन अथवा प्रेमीजन हों या हों राजमार्ग पर चले जाने वाले अपरिचित व्यक्ति, सधन हों या निर्धन, सबल हों या निर्बल, ज्ञानी हों या अज्ञानी, गृहस्थ हों या संन्यासी, खाते-कमाते हों या हों भिखारी अथवा दु:खित भु:खित, सबकी सेवा करूँगा मैं समान रूप से, उनके दु:ख अथवा संकट के अवसर पर। न केवल तन से प्रत्युत धन से, वचन से तथा मन से भी। शरीर द्वारा उनकी टहल सेवा करके अथवा उनके स्थान पर स्वयं उनके गृहस्थोचित कर्त्तव्यों की पूर्ति करके, उनके खेत में काम करके; धन द्वारा उनकी आर्थिक सहायता करके, वचन द्वारा उनको सान्त्वना देकर, उनको धीर बँधाकर और मन द्वारा उनके सुख व शान्ति की कामना करते हुए प्रभु से उनके लिए प्रार्थना करके। और क्या कृत्रिम होगा मेरा यह प्रयत्न, कुछ भार-सा समझकर ? नहीं सहज होगा, स्वाभाविक होगा, हृदय-युक्त होगा। क्यों न हो, मैं उसे अपने से भिन्न देखता ही कब हूँ ? मुझे तो दीखता है चेतन, बिल्कुल वैसा ही जैसाकि मैं स्वयं हूँ, शान्ति तथा समता का आवास। यह है बाहर का व्यवहार-वैयावृत्त्य अर्थात् निष्काम सेवा। यदि मैं ऐसा न करूँ अथवा भार समझकर कृत्रिमता से करूँ। तो इसका अर्थ क्या होगा ? यही न कि मैं चेतन की बात ही करना सीखा हूँ, उसके दर्शन अभी मुझे नहीं हुए हैं। मैं वास्तव में जानता ही नहीं कि क्या-क्या अरमान छिपाये बैठा है वह अपने हृदय में। 'विनय' की भाँति यहाँ भी समझ लेना चाहिये कि बाह्य के इस व्यवहार वैयावृत्त्य-तप को उल्लेख यहाँ साधु तथा गृहस्थ दोनों को लक्ष्य में रखकर किया जा रहा है।

(४) प्रात: मन्दिर में बैठकर शास्त्र में जो पढ़ा था अथवा प्रवचन में जो सुना था, तत्सम्बन्धी कुछ ऐसी बातें जो विशद रीति से समझ में नहीं आ पाई थीं, आपको खाली समयों में विचारनी चाहियें कि इनका यथार्थ अर्थ क्या हो सकता है और उस वाक्य व शब्द का आपकी शान्ति की सिद्धि के साथ क्या सम्बन्ध है ? यदि कुछ नहीं तो वास्तव में अर्थ ही ठीक नहीं हुआ। शास्त्र में लिखा एक-एक शब्द शान्ति का द्योतक है, उसको ठीक रीति से समझना चाहिये, नहीं तो वह इस मार्ग में अनुपयोगी ही रहेगा। शास्त्र तो स्वयं बोलकर बता नहीं सकता, उसमें लिखे शब्द अवश्य संकेत कर रहे हैं किसी ऐसी दिशा को जिधर आपकी शान्ति का निवास है। उस दिशा का अनुमान लगाना तथा उस अनुमान की परीक्षा अनुभव के आधारपर करना आपका काम है। साथ-साथ उन बातों को विचारना भी जो कि विशद रूप से आपकी समझ में आ गई थीं, और बहुमान-पूर्वक तथा हृदय की लगनपूर्वक। इनके अतिरिक्त किसी जिज्ञासु को उस समझे हुए सिद्धान्त के अर्थ का ठीक रीति से कल्याण-भावना पूर्वक उपदेश देना भी। यह प्रक्रिया प्रतिकूल वातावरण में रहकर आश्रय रहित की जा रही है, और इसीलिए कहलाता है यह स्वाध्याय नाम का चौथा आभ्यन्तर-तप। यथार्थ में स्वाध्यायतप तो योगियों को ही होता है जो कि जीवन में प्रतिक्षण समता के वेदन रूप

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्व-अध्ययन किया करते हैं, परन्तु उतने मात्र अवसर के लिए आपको भी उसी भावना का आंशिक वेदन हो जाने के कारण, इस अल्प भूमिका में भी **'स्वाध्याय'** नामका तप कहलायेगा।

(५) पाँचवाँ आभ्यन्तर तप है **'व्युत्सर्ग'** या त्याग। यथार्थ व्युत्सर्ग तो योगियों को ही होता है जिन्होंने इस गृहस्थ के सर्व जंजालों से मुँह मोड़ लिया है, यहाँ तक कि साथ-साथ रहने वाले इस शरीर से भी अन्तरङ्ग से नाता तोड़ दिया है। इस पर अनेकों बाधायें, क्षुधादि की अथवा मनुष्यकृत, तिर्यञ्चकृत, देवकृत व प्रकृतिकृत उपसर्गों की, आ पड़ने पर भी वे कुछ परवाह नहीं करते इसकी। धीर वीर बने अपने आन्तरिक सुख में बराबर मग्न रहते हैं। परन्तु इस अल्प भूमिका में एक गृहस्थ को भी हो सकता है यह। इन्द्रिय-संयम के प्रकरण में बताये अनुसार यथायोग्य विषयों का त्याग करने के अतिरिक्त (देखो २६.५) वह त्याग करता है दान के रूप में जिसका कथन पहले किया जा चुका है और योगियों को दृष्टि में रखकर पुन: आगे किया जाने वाला है 'उत्तम त्याग के ' प्रकरण में।

(६) छठे आभ्यन्तर तप का नाम है **'ध्यान'** सर्व तपों में प्रधान, सब तपों का राजा, जिसका कथन आगे पृथक् अधिकार में किया जाने वाला है।

❑

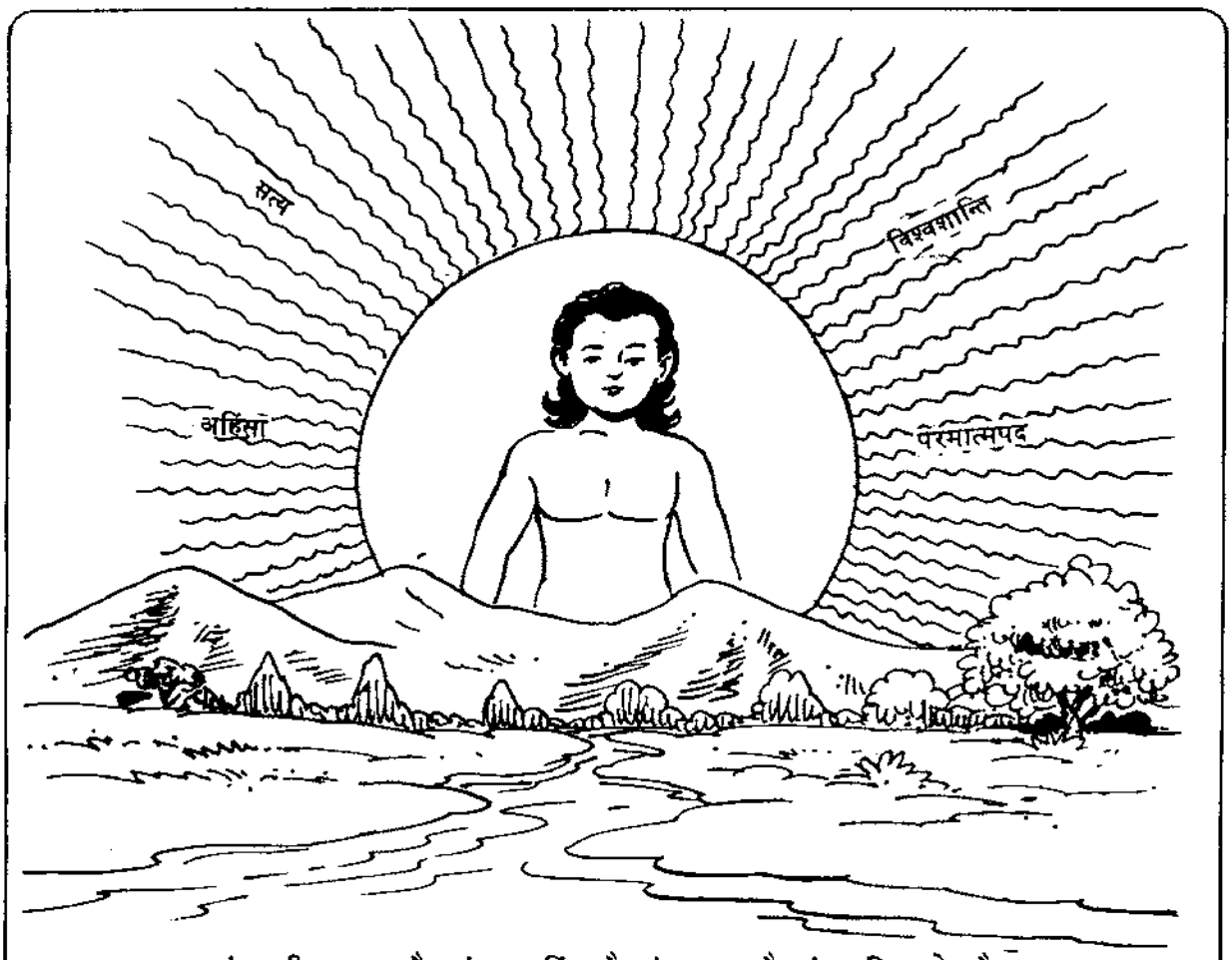

संयम ही परम तप है। संयम अहिंसा है, संयम सत्य है, संयम विश्व प्रेम है, संयम चित्त विश्रान्ति है और संयम ही परम पद है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

४१. ध्यान

१. ध्यान सामान्य; २. ध्यान विधि; ३. आर्त्तरौद्र ध्यान; ४. धर्म ध्यान; ५. मन्त्र जाप्य; ६. स्तोत्र पाठ; ७. भावना भावन; ८. तत्त्व-चिन्तन; ९. निरीह वृत्ति; १०. पदस्थादिध्यान; ११. शुक्ल ध्यान।

१. ध्यान सामान्य—अन्तिम तप का नाम है 'ध्यान' और यही है शान्तिपथ का प्राण, जिसकी सिद्धि के अर्थ देव पूजा आदि का सर्व अभ्यास अब तक करता आ रहा है। ध्यान का अर्थ है चित्त की एकाग्रता, उसकी वृत्तियों का निरोध, अर्थात् विविध विषयों में नित्य यत्र-तत्र भटकते रहने की उसकी जो अनादिगत टेव है उसको तिलाञ्जली देकर वह हो जाए स्थिर, शान्ति-प्रवर्धक किसी भी एक विषय के चिन्तवन में अथवा निर्विषय तूष्णी अवस्था में और विश्राम करे विकल्पों की ज्वालामुखी से दूर शान्ति के शीतल-सर में। शान्ति-पथ की यह सबसे कठिन साधना है क्योंकि बिना लगाम वाले उच्छृङ्खल घोड़े की भाँति अनादि काल से आज तक जिसका सर्व जीवन भाग दौड़ में ही बीता हो, विविध विषयोंमें भटकते रहना ही जिसका स्वभाव हो, ऐसे चित्त या मन को वश करना कोई हँसी-खेल नहीं, बड़े-बड़े योगी हार मानते हैं इससे। इसलिए कुछ विस्तार माँगता है यह विषय।

जिस प्रकार लाठी की शक्ति से भ्रमण करने वाला कुम्हार का चक्र लाठी को हटा लेने मात्र से तुरन्त रुक नहीं जाता प्रत्युत लाठी की शक्ति से उत्पन्न अपने वेगाख्य-संस्कारवश कुछ समय पर्यन्त स्वत: पूर्ववत् घूमता रहता है, उसी प्रकार विषय-जन्य इच्छा कामना अथवा वासना की शक्ति से भ्रमण करने वाला मन विषय के हटा लेने मात्र से तुरन्त रुक नहीं जाता प्रत्युत वासनाशक्ति-द्वारा उत्पन्न अपने वेगाख्य-संस्कारवश कुछ काल पर्यन्त स्वत: पूर्ववत् भ्रमण करता रहता है विविध विकल्पों में। इसका कारण है यह कि नेत्रादि बाह्य इन्द्रियों की भाँति इस आभ्यन्तर-इन्द्रिय का विषय बाहर में नहीं, स्वयं उसके भीतर स्थित है। अन्दर बैठा-बैठा वह स्वयं बुना करता है कल्पनाओं का जाल। क्षण भर में कोटा-कोटि ब्रह्माण्डों का सृजन कर देने वाला यह मन ही है भगवान ब्रह्मा, और अगले क्षणों में सब कुछ अपने में लय करने वाला भगवान शिव, जगत का कर्त्ता, धर्ता व संहर्ता, सृष्टा धाता व विधाता। विशाल है इसका राज्य जिसका ओर है न छोर। स्वयं रचना और स्वयं निगल जाना। विषयजन्य यह कामना या वासना ही है उसकी प्रधान शक्ति; सांख्य की प्रकृति और वेदान्त की अनिर्वचनीया माया।

जिस प्रकार लाठी को हटा लेने से कुम्हार का चक्र कुछ समय पर्यन्त घूमता रहकर संस्कार क्षीण हो जाने पर रुक जाता है स्वयं, उसी प्रकार इच्छा कामना व वासनारूप इस अचिन्त्य शक्ति के हटा लेने से मन कुछ काल पर्यन्त भ्रमण करता रहकर संस्कार क्षीण हो जाने पर रुक जाता है स्वयं। २४ घण्टे घर तथा दुकान सम्बन्धी व्यवहार या व्यापार में रत रहने वाले मन से कुछ समय के लिए निश्चल हो जाने की आशा करना दुराशा है और इसीलिए प्राय: सब यह कहते सुने जाते हैं कि ध्यान करते समय मन का निश्चल होना तो दूर उसकी गति इतनी बढ़ जाती है कि हृदय रो उठता है। कैसे-कैसे जगत बसाता है उस समय यह और बसा-बसाकर मिटाता है उस समय यह, कौन बता सकता है ? इसलिए ध्यान के साधक की सर्वप्रथम आवश्यकता है यह कि वह जन संसर्ग से दूर किसी ऐसे एकान्त व निर्जन स्थान में अभ्यास करे जहाँ न हो कोई बात करने वाला और न हो कुछ उसके मन में वासना जागृत करने वाला, साथ-साथ मौन रहने का भी अभ्यास करे। केवल वचन मौन नहीं मनोमौन भी, क्योंकि मन तथा वचन का परस्पर में इतना घनिष्ट सम्बन्ध है कि एक को दूसरे से विलग किया जाना सम्भव नहीं। मानसिक विकल्प सदा शब्दविद्ध होते हैं और शब्द सदा विकल्पविद्ध। शाब्दिक जल्प के बिना विकल्प और विकल्प के बिना शाब्दिक जल्प सम्भव नहीं। इस एकान्तवास तथा मौन का यह अर्थ नहीं कि घरबार छोड़कर वन में जा बैठना तथा किसी आगन्तुक के साथ बात न करना, प्रत्युत यह है कि शारीरिक संसर्गों तथा वाचिक संसर्गों से दूर मानसिक लोक में प्रवेश करे और २४ घण्टे अपने मन को प्रेमपूर्वक समझा-समझाकर उसे विकल्पों से हटाने का तथा निज स्वरूप में लीन करने का प्रयत्न करे, अन्यथा उसका सकल वनवास तथा मौन दम्भाचार से अधिक कुछ भी महत्त्व धारण नहीं कर सकेगा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यह है ध्यान की सबसे बड़ी कठिनाई जिसको जीत सकते हैं, केवल मौनावलम्बी, वनविहारी सन्यासी जन या साधु। परन्तु भाई ! तू निराश मत हो, भले ही मौन तथा वनवास करने में असमर्थ तू अपनी इस गृहस्थ-दशा में उन योगियों जैसा निर्विकल्प ध्यान न कर पाये परन्तु कुछ ऐसे कार्य अवश्य कर सकता है जो कि ध्यान में अत्यन्त सहायक हैं। इतनी बात अवश्य है कि इसके लिये काफी परिश्रम करना पड़ेगा तुझे, शारीरिक परिश्रम नहीं मानसिक परिश्रम। परन्तु क्या परवाह है, महान पदार्थ की प्राप्ति के लिये सभी तो महान परिश्रम करते हैं। इच्छा-ज्वाला में घी डालने वाले विषयों से जहाँ तक सम्भव हो अपने २४ घण्टे के जीवन में बचने का प्रयास करता रहे, और कुछ-कुछ समय के लिये प्रतिदिन मौन-युक्त एकान्तवास का अभ्यास भी।

२. **ध्यान-विधि**—और यह है ध्यान की विधि—चले जाइये कुछ देर के लिये किसी निर्जन तथा शान्त स्थान में, वन में, उद्यान में, मन्दिर में, अथवा किसी उपाश्रय में। बैठ जाइये किसी वृक्ष के नीचे या प्रभु के समक्ष अथवा अपने ही घर के किसी एकान्त व शान्त कोने में, जहाँ न सुनाई दे बच्चों की कलकलाहट और न हो मच्छर, मक्खी आदि की कोई बाधा। बैठ जाइये पृथ्वी पर या कुशासन पर, पद्मासन लगाकर अथवा अर्ध-पद्मासन लगाकर अथवा अन्य कोई भी आसन जिसका तुम्हें अभ्यास हो, जो तुम्हें सुखद प्रतीत होता हो, और कुछ देर तक जिसे आपको बदलने की आवश्यकता न पड़े। कमर और गर्दन को सीधी रखिए, और नेत्र अतथा श्रोत्र इन दोनों इन्द्रियों को बाहर से हटाकर भीतर की ओर उन्मुख कीजिये। कुछ ऐसी मुद्रा बनाइए कि मानो नेत्र देख रहे हैं अपने मन में होने वाला कोई अनोखा दृश्य और सुन रहे हैं वहाँ ही होने वाला कोई संगीत। न बाहर का कुछ दिखाई देता है और न बाहर का कुछ सुनाई देता है। इसी को कहते हैं नासाग्र दृष्टि। भले ही योगियों की भाँति ध्यान परिपक्व हो जाने पर इस प्रकार के किसी विधि-विधान का आपके लिये कोई मूल्य न रह जाए, चित्त-लय हो जाने के कारण भले ही तब आपके लिये राजा का रनवास भी वनवास और संस्तर पर लेटना भी पद्मासन बन जाय, भले ही तब चलते फिरते अथवा किसी से बातें करते भी सदा आपके हृदय में ध्यान की अविच्छिन्न धारा बहती रहे, परन्तु वर्तमान की इस निम्न अवस्था में बहुत सहायक पड़ेंगे ये सर्व विधान आपके लिये। इतनी सावधानी रखनी आवश्यक है कि कहीं ऊँघ या निद्रा ने तो नहीं धर दबाया है आपको अथवा प्रमादवश गर्दन तथा कमर ढीली पड़कर नीचे को तो नहीं झुक गयी है आपकी ? यह जान लेना आवश्यक है कि उपर्युक्त परिपक्व भूमि को प्राप्त महान् योगियों की नकल करने से तीन काल आपके प्रयोजन की सिद्धि होने वाली नहीं है। शान्ति का पथिक होने के कारण आपका कर्त्तव्य है कि जो कुछ भी करें अपनी भूमिका को पहचान का करें। अग्रिम विस्तार में अनेकों प्रकार के जाप्य, भावनायें, चिन्तवन आदि का कथन किया जाने वाला है, जिनमें से कुछ निम्न भूमि वालों के लिये हैं और कुछ उन्नत भूमिवालों के लिए।

३. **आर्त्तरौद्र ध्यान**—ध्यान नाम है चित्त का किसी एक विषय में अटके रहना, किसी भी विषय को लेकर विचार-मग्न बने रहना। और यह स्वभाव है इसका, हर समय कुछ न कुछ ध्यान किया ही करता है यह। भले विषय बदलते रहें परन्तु ध्यान एक क्षण को भी नहीं छूटता। कभी इष्ट विषयों की प्राप्ति, अभिवृद्धि तथा संरक्षण का, कभी अनिष्ट विषयों के परिहार का, कभी वेदना का और कभी अग्रिम भव-भवान्तरों में प्राप्त होने वाले इष्टानिष्ट संयोगों का। इतना ही नहीं, इस स्वार्थ-चिन्ता की रौ में बहता हुआ यह इस बात की भी परवाह नहीं करता कि जो-जो भी उपाय वह अपने इन मनोरथों की पूर्ति के अर्थ विचार रहा है उनसे कितने प्राणियों का निर्दय उत्पीड़न, शोषण अथवा घातन हो जाना अनिवार्य है। इसे क्या पड़ी किसी के दुःख सुख की ? कोई रोये या हँसे, मेरे स्वार्थ पूरे हो जायें, केवल इतनी मात्र चिन्ता है इसे। बिना किसी बौद्धिक प्रयत्न के प्रतिक्षण संस्कारवश स्वतः चलने वाली ये सर्व चिन्तनायें हैं, अधोगामी ध्यान, आर्त्तध्यान अथवा रौद्रध्यान, जिनका शान्तिपथ में कोई स्थान नहीं। विपरीत इसके उसके विरोध हैं ये, और इसलिये साधक का प्रयत्न रहता है सदा यह कि वह इनसे हटाकर चित्त को किन्हीं ऐसी चिन्तवनाओं में अटकाये जो कि शान्ति तथा समता की सिद्धि में सहायक हों।

४. **धर्मध्यान**—उसको इष्ट है 'धर्मध्यान' जिसका विस्तार आगे किया जाने वाला है। यद्यपि देव-पूजा, गुरु-उपासना और स्वाध्याय जिनका कथन पहले किया जा चुका है उक्त प्रयोजन में सहायक होने के कारण धर्मध्यान

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

की कोटि में गिने जा सकते हैं। तदपि इस ध्यान का वह रूप दर्शाना इष्ट है यहाँ जिसका कि साधक केवल इसी प्रयोजन से एकान्त में बैठकर अभ्यास करता है। अनेक प्रकार से किया जा सकना सम्भव है यह अभ्यास—मंत्रजाप्य द्वारा, स्तोत्रादि के पाठ द्वारा, भावना-भावन द्वारा, तत्त्व-चिन्तवन द्वारा अथवा निरीह वृत्ति से ज्ञातादृष्टा-मात्र बनकर रहने के द्वारा। जैसा कि पहले बताया गया है साधक का कर्त्तव्य है कि अपनी भूमिकानुसार उसे जो उपयुक्त जंचे उसी का अवलम्बन ले, अन्य का नहीं।

५. मन्त्र-जाप्य—धर्मध्यान का सर्वप्रथम तथा सर्वसरल रूप है मन्त्रजाप्य, जिसका इस क्षेत्र में बड़ा महत्त्व है। अनेकों मन्त्र हैं जैसे 'पंचणमोकार मन्त्र', इस मन्त्र के आद्य अक्षर 'अ सि आ उ सा', केवल 'अर्हन्त' शब्द अथवा केवल 'सिद्ध' शब्द, अथवा 'ॐकार' अथवा 'ॐनमो भगवते महावीराय' इत्यादि इत्यादि। अपनी रुचि तथा श्रद्धा के अनुसार साधक जिसका भी चाहे अवलम्बन ले सकता है।

'प्रणव अर्थात्' 'ॐ' मन्त्र की बड़ी महिमा है। 'अ उ म्' इन अढ़ाई अक्षरों का यह शब्द सभी मन्त्रों का राजा है, कारण कि ऊपर से छोटा सा दीखने वाला इसका रूप अपनी विशाल कुक्षि में सकल विश्व समेटकर बैठा हुआ है। कोई भी भाव अथवा किसी भी मन्त्र का अर्थ ऐसा नहीं जिसे इसमें समाविष्ट न किया जा सके।

१. पंच परमेष्ठी-वाचक नामों के आद्य अक्षरों की सन्धि से व्युत्पन्न यह शब्द णमोकार मन्त्र का प्रतीक तो है ही, इसके अतिरिक्त भी बहुत कुछ है। 'अ' का अर्थ अधोलोक, 'ऊ' का अर्थ ऊर्ध्वलोक और 'म' का अर्थ मध्य लोक। इस प्रकार तीनों लोक बैठे हैं इसके गर्भ में।

२. इतना ही क्यों? ॐ कार का अर्थ है नाद, कण्ठ, तालू, जिह्वा, ओष्ठ आदि में किसी प्रकार की भी क्रिया उत्पन्न किये बिना अन्दर से उदित होने वाली सामान्य-ध्वनि, जैसे कि 'अ.....'। कवर्ग आदि सर्व अक्षरसमूह है इसमें कण्ठ, तालू आदि के द्वारा उत्पन्न किये गये विकार। कण्ठ को सुकेड़ लेने पर वह ध्वनि बन जाती है कवर्ग, जिह्वा के मध्य भाग को तालू के साथ लगा देने पर बन जाती है चवर्ग, जिह्वा के अग्रभाग को तालू के साथ लगा देने पर वह बन जाती है टवर्ग और उसे ही दन्त के साथ टकरा देने पर वह बन जाती है तवर्ग। इसी प्रकार होठों को परस्पर मिला देने पर वही ध्वनि हो जाती है पवर्ग। तात्पर्य यह कि सर्व अक्षर समूह में अनुगत है वह, माला के दानों में पिरोए गए डोरे की भाँति। इस प्रकार सकल अक्षर, उनके संयोग से उत्पन्न विविध भाषायें तथा उपभाषायें, उन विविध भाषाओं में दिए गए सकल व्यवहारिक तथा पारमार्थिक उपदेश और सकल व्यवहारिक तथा पारमार्थिक-साहित्य, सब कुछ पड़ा है इस छोटे से मन्त्रराज के पेट में। इसीलिये सकल श्रुतज्ञान का, सकल द्वादशांग वाणी का प्रतीक है यह अकेला।

३. 'अ' का अर्थ है अनुस्यूति, क्योंकि 'क' 'ख' आदि सभी अक्षरों में अनुक्त रूप से अनुस्यूत रहता है यह। 'उ' का अर्थ है उत्पाद, और 'म' का अर्थ है विराम अर्थात् नाश या व्यय। इस प्रकार उत्पाद व्यय तथा इन दोनों में अनुस्यूत ध्रौव्य इन तीनों का ही युगपत वाचक है यह। और यदि इन तीनों को ही समेट लिया इसने तो फिर रह क्या गया?

भूत, वर्तमान, भविष्यत ये तीनों काल, ऊर्ध्व, अधो, मध्य ये तीनों लोक, सकल श्रुतज्ञान, उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य ये तीनों स्वभाव, सब कुछ बीज रूप से स्थित है इसमें। कहाँ तक गाई जाए इसकी महिमा, कोई भी ऐसा विषय नहीं जो इसके गर्भ में न समा जाता हो। सत्य-असत्य, सम्भव-असम्भव, स्थूल-सूक्ष्म, अन्तरंग-बहिरंग, सब कुछ पड़ा है इसकी कुक्षि में, और इसीलिये इतना ऊँचा स्थान है भारतीय संस्कृति में इसका। जैन तथा अजैन सभी क्षेत्रों में अपनी-अपनी श्रद्धा तथा सिद्धान्त के अनुसार समान रूप से पूज्य है यह।

शब्द की शक्ति अचिन्त्य है, कारण कि वह अकेला न रहकर रहता है सदा अपने वाच्यार्थ के साथ। वाच्य-वाचक सम्बन्ध ध्रुव तथा अविच्छिन्न है। किसी भी शब्द का उच्चारण करने पर उसका वाच्यार्थ बिना बुलाए सामने आकर खड़ा हो जाता है, जिस प्रकार कि 'बेटा' इतना मात्र कहने से आपके पुत्र जिनदास की आकृति स्वतः आकर खड़ी हो जाती है आपके समक्ष। भले ही जिह्वा-प्रदेश पर अथवा श्रोत्र-प्रदेश पर समाप्त हो जाने वाले रटे-रटाए शब्दों में यह लक्षण दृष्ट न हो, जैसे कि नित्य भक्तामर स्तोत्र का पाठ करते हुये 'भक्तामर' शब्द का उच्चारण होने पर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भक्त देवगणों की कोई आकृति आप न देख पायें; तदपि मानसिक जगत के साथ सम्बन्ध रखने वाले शब्दों में यह लक्षण अवश्यम्भावी है। इसलिये मन्त्रजाप्य के इस प्रकरण में केवल जिह्वा द्वारा शब्दोच्चारण करके सन्तुष्ट हो जाने की बात नहीं है, प्रत्युत अपने वाच्यार्थ की आकृति को साथ लेकर शब्द को मन में प्रविष्ट करने की बात है, अर्थात् जिस मन्त्र का या जिस शब्द का जिह्वा से उच्चारण किया जाए उसके साथ उसके वाच्यार्थ का रूप अथवा आकार भी मानस पट पर अंकित हुआ दिखाई देना चाहिए, जैसे कि अर्हत शब्द का उच्चारण करने पर, अर्हद् प्रतिमा का सांगोपांग-रूप मन में प्रत्यक्ष हो जाना चाहिए। इस लक्षण के अभाव में वह मन्त्रोच्चारण ग्रामोफोन का रिकार्ड मात्र बनकर रह जाएगा, जिसका ध्यान वाले इस क्षेत्र में कुछ अधिक प्रयोजन नहीं है।

६. स्तोत्र पाठ—इसी प्रकार किन्हीं स्तोत्र आदि का पाठ करना भी यद्यपि यहाँ कुछ प्रयोजनीय हो सकता है, परन्तु तभी जबकि मन्त्र-जाप्य की भाँति उसके वाच्यार्थ का ग्रहण करते हुये किया जाए, अर्थात् स्तोत्र पाठ के साथ-साथ उस भक्तिभाव का भी आपके हृदय में उद्भव हो जाए जो कि कवि ने अपने भावों के अनुसार उसमें ग्रथित करने का प्रयत्न किया है। क्योंकि शान्ति, समता अथवा ज्ञातादृष्टा-भाव की जागृति के अभाव में देवपूजा आदि कोई भी धार्मिक क्रिया धर्मध्यान नहीं कही जा सकती। मन ही जब बाजार में घूम रहा है अथवा अनेकविध विषयों का भोग करने में रत है तो उसे धर्मध्यान कहोगे या आर्त्तध्यान ? यहाँ यह बात ध्यान में रखने योग्य है कि ध्यान का सम्बन्ध मन के साथ है, जिह्वा आदि किसी अन्य इन्द्रिय के साथ अथवा शरीर के साथ नहीं।

इसका यह अर्थ नहीं कि मन्त्रोच्चारण अथवा पाठोच्चारण का निषेध किया जा रहा है, प्रत्युत यह है कि इन सकल क्रियाओं द्वारा ध्यान के उक्त लक्षण की अर्थात् चित्तवृत्ति-निरोध की यर्थाथ सिद्धि होती रहे। निषेध है उस क्रिया का जो कि अन्तरंग प्रयोजन से निरपेक्ष वर्त रही है। अभ्यस्त हो जाने के कारण ये मन्त्र व पाठोच्चारण वास्तव में आज संस्कार की श्रेणी को प्राप्त हो चुके हैं, इनका उच्चारण करते समय बुद्धि का प्रयोग करने की आवश्यकता नहीं पड़ती। आज यह क्रिया मैकेनिकल (मशीनवत) सी हो गई है अर्थात् मन कहीं भी घूमता रहे, कैसे भी विकल्पों के जाल बुनता रहे, परन्तु ग्रामोफोन के रिकार्ड की भाँति मुँह अपना काम करता रहेगा, और हाथ अपना; मुझे स्वयं को इतना भी पता न चल पायेगा, कि किस प्रयोजन को लेकर मैं यहाँ बैठा हूँ। अन्तरंग में घूमा करूँ रागद्वेष के संसार में और बाह्य में करता रहूँ ध्यान। यह क्रिया जब कभी पहले-पहल प्रारम्भ की थी तब तो बुद्धि की कोटि में रहकर ही की थी, परन्तु तब यथार्थ प्रयोग किया नहीं, और अब जबकि स्वयं यह अबुद्धि की कोटि में जा चुकी है बुद्धि लगाकर भी मेरे प्रयोजन की सिद्धि कर नहीं सकती, अत: बेकार है।

अब प्रश्न यह होता है कि मन्त्रजाप्य या स्तोत्र-पाठ आदि के द्वारा इस प्रयोजन की सिद्धि कैसे हो ? लीजिये, छोड़ दीजिये मैकेनिकल प्रक्रिया को या किसी भी रटे हुये पाठ आदि के उच्चारण को , और स्वतन्त्र रूप से अपनी बुद्धि का प्रयोग करके उठाइये कुछ विचार अपने भीतर गद्य या पद्य में या मात्र अपने अन्तर्जल्प में। देखिए कितना पुरुषार्थ करना पड़ेगा आपको इस प्रक्रिया में। बुद्धि या उपयोग का कार्य एक समय में एक ही चल सकना सम्भव होने के कारण इस प्रक्रिया के करते हुये आपको अपने मन को जबरदस्ती उन विचारों में केन्द्रित करना पड़ेगा और वह अपनी इच्छा से इधर-उधर न भाग सकेगा। फलत: लौकिक रूप वाले तेरे-मेरे के विकल्प रुक जायेंगे और वीतरागता, निर्विकल्पता तथा शान्ति का वेदन प्रकट हो जायेगा। बस हो गई ध्यान के प्रयोजन की सिद्धि।

मन्त्रजाप्य अथवा स्तोत्र-पाठ के रूप में किया जाने वाला यह ध्यान अल्प भूमिका वाले गृहस्थ या श्रावक जनों में अधिक प्रसिद्ध है, क्योंकि शक्ति की हीनतावश उनका चित्त भावना-भावन आदि में टिक नहीं पाता। विशेषता इतनी है कि वहाँ यह 'ध्यान' नाम न पाकर 'सामायिक' कहा जाता है, जैसाकि श्रावक धर्म के अन्तर्गत पहले बताया जा चुका है।

ध्यान तथा सामायिक वास्तव में एक ही बात है, विशेषता केवल इतनी है कि सामायिक में चित्त की स्थिरता ध्यान की अपेक्षा कम होती है। वहाँ ज्ञानधारा तथ कर्मधारा दोनों का मिश्रण रहता है। सामायिक गत द्वन्द्व स्थूल होने के कारण बुद्धिगम्य होते हैं और ध्यानगत वे ही सूक्ष्म होने के कारण बुद्धि की पहुँच से बाहर होते हैं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

७. भावना-भावन—धर्म-ध्यान का दूसरा रूप है भावना-भावन। शास्त्रोक्त पाठ आदि का अवलम्बन लेकर अथवा स्वत:, शब्द-सापेक्ष अथवा शब्द-निरपेक्ष, जिह्वा से उच्चारण करते हुये अथवा केवल विचाररूप, हृदय में कुछ ऐसी भावनायें जागृत कीजिये जिनके सद्भाव में चित्त लौकिक विषयों से विरक्त होकर अन्दर में डूबने लगे। अनेकों हो सकती हैं ऐसी भावनायें, यथा-क्षेत्र तथा यथा-काल, परन्तु आगमगत १२ वैराग्य भावनाओं का उल्लेख कर देना ही पर्याप्त है यहाँ। यद्यपि इनका विस्तार आगे किसी प्रकरण में किया जाने वाला है (देखो ४५.४) तथापि प्रयोजनवश यहाँ भी उनका उल्लेख करने में कुछ हानि नहीं है, क्योंकि वहाँ इनको जिस रूप में प्रस्तुत किया गया है, यहाँ उनका उससे कुछ भिन्न प्रकार का रूप होगा।

१. हे मन्! तू इस दृष्ट जगत की ओर क्यों लखाता है? क्या रखा है यहाँ? सब कुछ '**अनित्य**' है। अब है और अगले क्षण नहीं। क्या भरोसा है इसका? किसी की भी अपनी कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं, किन्हीं सत्ताओं की उत्पन्नध्वंसी अवस्थायें ही तो हैं, सागर की तरंगोवत्। उनकी ये चंचल अवस्थायें भी तो विद्यमान नहीं है, इस समय तेरे समक्ष। तेरे समक्ष तो विद्यमान हैं मात्र तेरे असत् विकल्प, जिनको तू स्वयं बना-बनाकर मिटाये जा रहा है और स्वयं ही उनमें रुले जा रहा है। सम्भल, अपने घर में स्वयं ही आग न लगा, अपनी शक्ति का दुरुपयोग न कर अथवा इसे व्यर्थ न गँवा। महान कार्य की सिद्धि करनी है तुझे इससे, शांति-प्राप्ति की।

२. अपनी शक्ति के द्वारा अपने में उत्पन्न की जाने योग्य इस शान्ति के लिये इन बाह्य पदार्थों की शरण में जाते हुए, इनका द्वार खटखटाते हुए, इनसे भिक्षा माँगते हुए क्या लाज नहीं आती तुझे? समस्त विश्व का अधिपति होकर भी क्यों व्यर्थ भिखारी बना भटक रहा है तू? हट वहाँ से और इधर आ अपने भीतर, इस चेतन-महाप्रभु की शरण में, भरा पड़ा है जहाँ तेरा अपना अनन्त वैभव। स्थायी है वह और सत्य।

३. सब कुछ **संसरणशील** है यहाँ, इस निःसार जगत में। अभी उत्पत्ति और अभी विनाश, अभी जन्म और अभी मरण। एक भगदड़ मची है सर्वत्र, इसके अतिरिक्त और क्या है यहाँ? और इसीलिये भगदड़ मची है तेरे अन्दर भी, एक विकल्प आया और दूसरा गया। जो कुछ किसी के पास है वही तो देगा वह अपने शरणार्थी को। इसके पास है भगदड़, और वही दे रहा है यह तुझको। छोड़ प्रभु! छोड़, अब इसकी शरण को छोड़ और आ इधर, अपने भीतर, चेतन-महाप्रभु की गोद में, और स्नान कर शान्तिसर के नीरंग और निस्तरंग शीतल जल में; भव-भव का संताप दूर हो जायेगा तेरा।

४. हे चित्त! किसको कह रहा है तू अपना? भवसागर में गोते खाता, थपेड़े सहता, इस तरंग से उस पर और उस तरंग से इस पर फैंका जाता तू यहाँ किसे कहता है अपना? सब तुझसे भिन्न हैं, अन्य हैं, पर हैं। रेल में सफर करने वाले यात्री को मार्ग में न जाने कितने टकराये और कितने छूटे, घर लौटे तो एक भी साथ नहीं, सभी चले गये जहाँ-जहाँ जिसे जाना था। माता-पिता, स्त्री-कुटुम्ब, प्रेमी-बान्धव सभी उतर जाने वाले हैं अपने-अपने स्टेशन पर। क्यों व्यर्थ देखता है इनकी ओर आशाभरी दृष्टि से? हट वहाँ से इधर आ, अपने हृदय की उस गहराई में जहाँ न कुछ आता है और न कुछ जाता है, जो है वही रहता है और वैसा ही रहता है।

५. **अकेला** ही आया है और अकेला ही चला जायेगा। न कोई आया है तेरे साथ और न कोई जायेगा तेरे साथ। सब दुःख सुख भोगेगा तू स्वयं, कोई बँटवाने वाला नहीं। क्यों व्यर्थ चिन्ता करता है इनकी, क्यों व्यर्थ सहायता खोजता है इनकी, इस अखिल जड़-चेतनवर्ग की? न कुछ अनुकूल है यहाँ न प्रतिकूल, न इष्ट न अनिष्ट। हट यहाँ से, आ अपने भीतर, देख इस चैतन्य महाप्रभु को। यही है तेरा पिता और माता, यही है तेरा पुत्र और पत्नी। सब कुछ यही है, इष्ट भी और अनिष्ट भी, शत्रु भी और मित्र भी, इसके अतिरिक्त कुछ नहीं। इसमें से ही उद्भव हुआ है तेरा और तेरे सर्व द्वन्द्वात्मक विकल्पों का, तथा इसी में समा जाने वाला है तू और तेरे ये सकल द्वन्द्व। यही है ईश्वर, सृष्टा, कर्त्ता, धर्ता और संहर्ता, सकल जगत का, बाह्य जगत का और आभ्यन्तर जगत का।

६. जिसके प्रति जा रहा है तू दौड़ा हुआ पागलों की भाँति, क्या देखा है हे मन! तूने उसका वीभत्स रूप कभी, चिकने-चिकने चमड़े से मँढ़ा हुआ मांसास्थि पञ्जर, विष्टा का घड़ा, महा **अशुचि**, महा अपवित्र। कौन सुन्दरता है

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इसमें, कौन आकर्षण है इसमें, तेरे अपने शरीर में और इस स्त्री के शरीर में जिस पर लुभाया जा रहा है तू ? पवित्र वस्तुओं को भी अपवित्र कर देने वाला इससे अधिक अपवित्र क्या है इस जगत में, घिनावना क्या है इस जगत में ? भगवान ने तो तेरा सेवक बनाकर भेजा था इसे, परन्तु तू स्वयं बन बैठा इसका सेवक। मूर्च्छा, महान मूर्च्छा। हट इधर से और आ अपने भीतर, देख अपना सुन्दर शरीर, ज्ञान शरीर, अनन्त ज्योति पुञ्ज, चित्पिण्ड।

७. बस हो अब नित्यनूतन अपराधों से, इस पुण्य-पाप रूप **आस्रव** से, जिसने खो दिया है तुझे घर-घाट से। रक्षा कर अपनी इस सर्वभक्षी दुष्ट राक्षस से। आ इधर, स्वयं अपने भीतर, देख अपना सौम्य तथा साम्य स्वरूप, इस ज्ञान-दर्पण में, जहाँ न है मैं न तू, न मित्र न शत्रु, न सज्जन न दुर्जन, न ऊँच न नीच, न इष्ट न अनिष्ट, न जन्म न मरण, न हानि न लाभ, न ग्राह्य न त्याज्य। है केवल चिज्जयोति, अखण्ड व अगम्य।

८. दबा ले प्रभु ! दबा ले, इन सर्व बाह्याश्रित द्वन्द्वों को। **संवरण** कर दे इनका, उनका जिन्होंने कि नष्ट कर दिया है तुझे, रुला रखा है तुझे। चञ्चल जगत की ओर देखने से ही तो भटक रहा है तू इन स्व-रचित द्वन्द्वों में, विविध विकल्पों में। यदि कदाचित देखले एक बार, केवल एक बार, स्वयं अपनी ओर, अपने भीतर विराजमान महाप्रभु की ओर, तो कृतकृत्य हो जाए तू, इस द्वन्द्व-सागर से पार हो जाए तू।

९. और फिर यह दुष्ट संस्कार-राशि भी, जिसे पुष्ट किए जा रहा है तू, नित्य-नूतन अपराध कर-करके, भूखे मरते छोड़ जाएं तेरा घर, क्षीण होकर झड़ जाए सब, पतझड़ की भाँति। निर्जरा हो जाए इनकी, तू हो जाए निश्चिन्त व अभय, इनसे तथा इनके आतंक से। जब इनकी कुछ बात ही नहीं पूछेगा तू, तो क्या बिगाड़ सकेंगे ये तेरा ? और वास्तव में ये हैं भी तो नहीं, तेरी कल्पनाओं के अतिरिक्त कुछ।

१०. देख चेतन ! देख, अपनी महिमा। तीन लोक का अधिपति है तू, इसका ईश्वर तथा परमेश्वर है तू। तुझमें से ही निकला आ रहा है सब कुछ और तुझमें ही लीन हुआ जा रहा है सब कुछ, सागर की तरंगों-वत्, अन्तरंग का यह वैकल्पिक लोक, जिसका न ओर है न छोर। यह व्यवहारिक जगत है केवल इसका प्रतिभास, अभूतार्थ व असत्यार्थ, सम्भवत: इसलिये कि कदाचित् तृप्त हो सके तू इन्द्रियों द्वारा प्रत्यक्ष करके अपनी इस महान कला का ? परन्तु तू तो समझ बैठा है इसको ही सब कुछ और भूल गया अपनी कला को। कदाचित् समझ पाता तू अपने इस कौशल को, अपने इस परिपूर्ण विज्ञान को—विकल्प करना, और अगले ही क्षण साकार कर देना उसे एक शरीर का आविष्कार करके। बता तो सही कि इसके अतिरिक्त और क्या है यह जिसे कि तू कहता है लोक ? तेरे विविध शरीरों का संघात ही तो है, कुछ जीवित शरीरों का और कुछ मृत शरीरों का अथवा उनके नाम-रूपों का इसके अतिरिक्त और क्या ?

११. हे त्रिलोकाधीश ! क्यों लुभाता है इसमें, क्यों लालसा करता है इसकी ? सभी कुछ तो सुलभ है, इससे अधिक सुलभता क्या ? कल्पना की और तुरन्त हो गई वह साकार। पद-पद पर बिखरे पड़े हैं, यों ही बेकार से, तेरी कल्पनाओं के ये साकार रूप। अनेकों बार ग्रहण कर-करके छोड़ चुका है, बना-बनाकर तोड़ चुका है। त्यक्त को पुन: पुन: उठाते, वमन को पुन: पुन: चाटते, क्या ग्लानि नहीं आती तुझे ? कदाचित् जान पाता तू इस जगत की दुर्लभतम वस्तु को तो कृतकृत्य हो जाता तू सदा के लिये, सो जाता विश्राम से सदा के लिये। तेरी अपनी निधि, **'बोधि'**, ज्ञान। लौकिक विषय-ज्ञान नहीं और न ही शाब्दिक शास्त्र-ज्ञान, प्रत्युत तात्त्विक आत्म-विज्ञान, भीतरी जगत को प्रत्यक्ष कराने वाला रहस्य-ज्ञान, गुरु कृपा के बिना सम्भव नहीं है जो। तज इस लोक की शरण और पकड़ उनकी शरण, उनके द्वारा प्रदत्त आलोक की शरण।

१२. और इसी से जान पायेगा तू अपना स्वभाव, अपना **धर्म**, चिदानन्द का मर्म, समता-रस, शान्ति-सुधा, मुक्ति, निर्वाण और खो जाएगा तू, लीन हो जाएगा तू उसमें सदा के लिये। न रहेगा तेरा यह मन और न रहेंगे उसके द्वन्द्व।

इसी प्रकार अन्यान्य भी अनेकों भावनाओं का हृदय में उद्भावन करके देख तू स्वयं, कि किस प्रकार तेरा चित्त, तजकर अपना चञ्चल वृत्त, हुआ जा रहा है लीन, हृदय-सागर की अथाह गहराई में, जहाँ न है बाह्य जगत को स्थान और न अन्तरंग जगत की सत्ता। है केवल एक शान्त-रस, द्वन्द्वातीत समता, और इसलिए भावनाओं के विकल्परूप होता हुआ भी यह कहा जाता है ध्यान, धर्मध्यान का तृतीय रूप, मन्त्रजाप्य तथा स्तोत्र-पाठ वाले प्रथम दो रूपों से कुछ ऊँचा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

८. तत्त्व-चिन्तन—धर्मध्यान का चौथा रूप है तत्त्व चिन्तवन। अनेक प्रकार का चिन्तवन किया जा सकता है इसके अन्तर्गत, जिनमें से कुछ मात्र का उल्लेख तो आगम में उपलब्ध है और कुछ का अपनी बुद्धि से निकालकर किया जाना सम्भव है। इसके अतिरिक्त भी अनेक चित्रण खेंचे जा सकते हैं अपने मन से, स्वयं अपनी-अपनी बुद्धि तथा श्रद्धा के अनुसार। आगम में चार चिन्तवन प्रसिद्ध हैं—आज्ञा-विचय, अपाय-विचय, विपाक-विचय और संस्थान-विचय। लीजिए पहले क्रम से इन चारों का ही उल्लेख करता हूँ, तत्पश्चात् यथासम्भव अन्य भाव भी चित्रित करने का प्रयत्न करूँगा।

(१) पहला चिन्तवन है **'आज्ञाविचय'**। आज्ञा अर्थात् गुरु-आज्ञा, गुरुदेशना। अपार है गुरुदेव की कृपा, कैसे गाऊँ उनकी महिमा और कैसे करूँ उनकी स्तुति, शब्द ही नहीं मेरे पास। जीव आदि तत्त्वों के सम्बन्ध में देशना देकर उन्होंने मुझ अन्धे को आँखें प्रदान की, अन्यथा कैसे जान सकता मैं अन्तरङ्ग-जगत के ये रहस्य जहाँ तक इन्द्रियों की पहुँच नहीं। किस प्रकार प्यार से पुचकार-पुचकार कर तथा प्रेरणा दे-देकर उन्होंने मुझे इस अथाह सागर से ऊपर उभारा, शान्ति का मार्ग दर्शाया, जिस पर अपनी शक्ति अनुसार बराबर आगे-आगे बढ़ता हुआ आज मैं संन्यासी के इस उन्नत सोपान पर पग रखने योग्य हुआ, जिसे पाकर कृतकृत्य हुआ जा रहा हूँ मैं। यह सब गुरुदेव की देशना का ही तो प्रताप है, और क्या ? इस प्रकार हस्तावलम्बन देकर मुझे ऊपर न उबारते वे तो पड़ा-सड़ा करता वहीं, जगत के इस अन्ध-कूप में। धन्य हैं गुरुदेव और धन्य है उनकी देशना। भव-भव में प्राप्त होती रहे मुझे यह, जब तक पूर्ण न हो जाऊँ मैं।

(२) दूसरा चिन्तवन है **'अपाय-विचय'**। अपाय अर्थात् प्राप्ति का अभाव। इस देशना की प्राप्ति न होने के कारण ही आज तक इस विकट-वन में भटकता रहा, क्षणभर को भी अन्तर्शान्ति का परिचय प्राप्त न हुआ। मेरा अभाव तो कभी हुआ नहीं था, क्या तो अनादि काल से ही आ रहा हूँ, परन्तु कितने आश्चर्य की बात है कि आज तक इसके प्रति जिज्ञासा ही उत्पन्न नहीं हुई मेरे हृदय में। और इसी प्रकार कितने दुःखी हैं जगत के ये सर्व प्राणी भी, बेचारों को ये भी पता नहीं कि दुखी हैं या सुखी, शान्ति की प्राप्ति हो तो कैसे हो ? हे गुरुवर ! कृपा करो इन पर भी मेरी ही भाँति, देशना देकर उबार लो इनको भी मेरी ही भाँति। मेरे भाई बन्धु ही तो हैं सब, एक चेतन-तत्त्व की सन्तान।

(३) तीसरा चिन्तवन है **'विपाक विचय'**। विपाक अर्थात् कर्म-विपाक, संस्कारों की जागृति। कितने दुष्ट हैं ये प्रबल संस्कार ? सदा इनके पाले पड़ा रहा। क्षण भर को भी हित बुद्धि नहीं उपजी। उपजती भी कैसे ? पहरे पर जो बैठे थे ये दुष्ट, सावधान कि कहीं गुरुवाणी प्रवेश न कर जाए हृदय में। और ये जगत के सर्व प्राणी भी नाच रहे हैं, मेरी ही भाँति उनके आधीन हुए। बड़ी सावधानी की आवश्यकता है इनसे युद्ध ठानने के लिए, इनके प्रहार से बचने के लिए। गुरुचरण ही एक मात्र शरण है यहाँ। उन्होंने ही मेरी रक्षा की है इनसे और वही करेंगे इस अखिल जगत की रक्षा। मुझे प्रकाश मिला है उनसे, मुझे बल मिला है उनसे। इन्हें अब जड़-मूल से उखाड़कर फेंक देना ही सर्व-प्रथम तथा सर्व-प्रधान कर्त्तव्य है मेरा। अब इन्हें मेरा देश छोड़ना ही पड़ेगा, इनके एक बच्चे को भी आज्ञा नहीं मिलेगी अब यहाँ रहने की। आज तक इनके आधीन रहा, पर अब नहीं रहूँगा। गुरु-शरण जो प्राप्त हो गई है मुझे।

(४) चौथा चिन्तवन है **'संस्थान-विचय'**। संस्थान अर्थात् देहाकृति। कितना सुन्दर लगता है अर्हन्त-प्रभु का शरीर, शान्ति में नित्य स्नान किए जा रहा है मानो, अनेकों बाह्य अतिशयों से युक्त अन्तरङ्ग के अनन्त वैभव का परिचय दे रहा है मानो। और यह गुरुदेव की वीतराग आकृति, कितनी शान्त तथा सौम्य है यह ? अथवा सिद्ध प्रभु का निराकार आकार, संस्थानहीन संस्थान मूर्तिहीन मूर्ति ? ज्ञान ही है आज उनका शरीर, लोकालोक व्यापी ज्ञान, और इसलिए सर्वगत है वह, सर्व-व्यापक है वह, चिज्ज्योति मात्र। अथवा स्वयं मेरे भीतर हृदयगुहा में विराजमान वह परम देव, सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमेश्वर, परमतत्त्व, क्या कहूँ इसे, कैसा संस्थान बताऊँ इसका ? ज्योति तथा तेज के अतिरिक्त कुछ दीखता ही नहीं मुझे।

और इस प्रकार अनेकों संस्थानों का चिन्तवन किया जा सकता है इसके अन्तर्गत, अनेकविध धारणायें की जा सकती हैं इसके अन्तर्गत, कल्पनागत धारणायें, परन्तु तत्त्वोन्मुखी। यथा :—

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१. देखो कितना महान है यह सागर, न ओर दिखता है न छोर। तूफान उठ रहा है इसमें, ज्वार उठ रहा है इसमें, नक्र-चक्र आदि ने उत्पात मचा रखा है इसमें, सब ओर उत्तंग तरंगों ने भयंकर बना रखा है इसे। और वह कमल तथा उसकी पतली सी नाल ? कितने मजे में खड़ा है इस क्षुब्ध-सागर के बीचों-बीच, बिल्कुल अस्पृष्ट, निर्भय। इसकी मध्यवर्ती कर्णिका पर बैठा हूँ मैं, पद्मासन लगाये, ध्यान-मुद्रा में, जिसे न पता है सागर का और न उसके क्षोभ का। २. देखो मेरी नाभि के मध्य में यह प्रणव, यह ॐ कार, धीमा-धीमा धुआँ सा निकलता प्रतीत हो रहा है जिसके बिन्दु में-से। और लो यह धुआँ तो बन बैठा प्रचण्ड ज्वाला। किस प्रकार बढ़े जा रही है यह आकाश की ओर, किस प्रकार भस्मीभूत किये जा रही है यह सबको, मानो प्रलयाग्नि ही है ? भस्म हो गया है मेरा शरीर और यह कमल तथा उसकी नाल भी। केवल शेष रह गया मैं, चित्पिण्ड, जिस पर वश नहीं चलता इसका। अग्नि-ज्वालाओं के मध्य कुन्दनवत् शोभित हो रहा हूँ मैं, या है यह कुछ थोड़ी सी भस्म, मेरे शरीर की तथा उस कमल की। ३. देखो कितना बड़ा तूफान उठा पश्चिम की ओर से, वेगवन्त वायु, अत्यन्त विकराल। उड़ गई सकल भस्म उसमें। फिर भी कुछ मात्र दिखाई दे रही है मुझे, मेरे इस चित्पिण्ड पर लिपटी हुई सी। ४. यह भी धुली जा रही है अब, तूफान के काले-काले विशाल मेघों से गिरने वाली अटूट जल-धाराओं के द्वारा। और अब ? केवल मैं, अत्यन्त निर्मल तथा उज्जवल शुद्ध चैतन्य, और यह सागर, क्षोभ शान्त हो चुका है जिसका। दिशाओं विदिशाओं में फैला जा रहा है मेरा प्रकाश, असीम प्रकाश।

(५) अब लीजिये कुछ अन्य चिन्तवन भी। "मैं हूँ यह चेतन तत्त्व" निर्मल ज्योति मात्र। भूलकर इसे आज तक शरीर को ही मानता रहा 'मैं', ज्वाला के गर्भ में समा जाने वाले इस शरीर को। इसी का आश्रय लेकर करता रहा सदा नवीन-नवीन विकल्पों की सृष्टि, संस्कारों का निर्माण तथा पोषण करता रहा सदा उनका, बेसुध। यह भी न जान सका कि किस प्रकार लूटे जा रहे हैं मेरी सम्पत्ति ये, मेरे घर के चोर, और इसलिए सदा बना रहा व्याकुल। आज बड़े सौभाग्य से प्राप्त हुई है, गुरुदेव की देशना; कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य जाना, हित-अहित पहचाना, देवपूजा, गुरु-उपासना आदि के द्वारा संवरण किया उन संस्कारों को तथा विविध प्रकार के बाह्य और आभ्यन्तर तपों द्वारा शोषण किया उनकी शक्ति का। मिली एक अपूर्व शान्ति, जिसे पाकर कृतकृत्य हुआ जा रहा हूँ, प्रभु बना जा रहा हूँ मैं। यह सब गुरु-शरण का ही तो प्रताप है, और क्या ?

(६) हे चेतन महा प्रभु ! क्यों भूले जा रहा है अपनी महत्ता, क्यों रुले जा रहा है जगत के इस असत्य विलास में, जिसकी अपनी कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं (देखो ९.२) ? क्यों देख रहा है ललचाई-ललचाई दृष्टि से इनको, किन्हीं सत्ताभूत मौलिक पदार्थों की पर्यायों को, उनकी क्षणध्वंसी अवस्थाओं को ? क्या भूल गया कि तूने ही सृजन किया था अपनी कामना तथा वासना-शक्ति के द्वारा अन्तरंग के वैकल्पिक जगत का और तत्फलस्वरूप अनेकविध-शरीरों के संघातरूप इस बाह्य-जगत अथवा नोकर्म-जगत का (देखो ८.१) ? तू ही स्वयं लीन कर लेने वाला है अपने इस अखिल बाह्याभ्यन्तर विस्तार को अपने भीतर। और इस प्रकार त्रिमूर्ति तू ही है, उत्पाद व्यय ध्रौव्य। (देखो ९.६) सृजन करते-करते बहुत काल बीत चुका है तुझे, देख तेरा दिन अस्ताचल की ओर चला जा रहा है और रात्रि आकाश पर छाई जा रही है ताकि इस उधेड़बुन से विश्रान्त होकर आनन्द की नीन्द सो सके तू, अपने इस अखिल विस्तार को अपने में लय करके स्वयं अपने में खो सके तू।

(७) हे भगवन् ! तू भूल गया कि तू ही है सृष्टा इस अखिल विस्तार का ? इन सकल सूक्ष्म तथा स्थूल शरीरों का। कुछ सृष्टि तूने की है आज और कुछ की कल और किये जा रहा है बराबर बच्चों की भाँति। कभी एक घरौंदा बनाता है और कभी दूसरा, कभी एक खिलौने से खेलता है और कभी दूसरे से। नवीनता जो भाती है तुझे ? पहले घरौंदे को तोड़कर दूसरा नया घरौंदा बना लिया, पहले खिलौने को तोड़कर या छोड़कर दूसरा नया खिलौना ले लिया। तेरी लीला या विलास के अतिरिक्त और क्या कहूँ इसे ? अपनी ही लीला को क्यों इतने विस्मय से देख रहा है तू ? भले ही किसी दूसरे के लिए कुछ आश्चर्य की वस्तु हो यह, परन्तु तेरे लिए तो कुछ भी नया नहीं है यहाँ। अनेकों बार बना-बना कर तोड़े हैं तूने और तोड़-तोड़कर बनाये हैं तूने ये नाम तथा रूप। अब समेट अपनी इस बाह्य-दृष्टि को, इस अपनी लीला को और डुबकी लगा स्वयं अपने अन्दर। देख सब कुछ पड़ा है वहाँ, युगपत्। (देखो २६.१०)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(८) भो चेतन ! क्यों व्यर्थ रागद्वेष करता है जगत के इन चित्र-विचित्र पदार्थों में उलझकर, क्यों इष्टानिष्ट की कल्पनायें करता है ? तू ही बसता है इन सब में, कुछ में प्रत्यक्ष और कुछ में परोक्ष, कुछ में आज कुछ में कल। जड़ चेतन के भेद को भी अवकाश कहाँ है यहाँ ? जड़ कहलाने वाले ये सब पृथ्वी, पाषाण, धातु, लकड़ी, वस्त्र आदि भी तो रह चुके हैं पहले तेरे आवास, तेरे शरीर ? तू ही तो बसता है या बसता था इन सब में, और इस प्रकार तेरा ही तो आवास है यह अखिल विस्तार ? विषमता को अवकाश कहाँ ? ज्ञाता दृष्टा बनकर देख अपने ही इस अखिल विस्तार का विलास, अपना कला-कौशल । कितनी अद्भुत है इसकी महिमा और तेरी महिमा ? (देखो २६.१०)।

(९) जड़ दिखते हों या चेतन, तेरे ही तो शरीर हैं, तेरी ही तो उपज है, सब तेरी ही तो सन्तान है, कोई बड़ी और कोई छोटी, किसी को जन्म दिया था कल और किसी को दिया है आज। तेरी ही भाँति हैं अन्य भी अनन्तों । सब वही तो कर रहे हैं जो तू कर रहा है। सब भाई-भाई हैं, सब मित्र-मित्र हैं—एक कुटम्ब है, अखण्ड तथा निर्द्वन्द्व। कहाँ है मैं-तू का, शत्रु-मित्र का, सज्जन-दुर्जन का, ऊँच-नीच का, स्त्री-पुरुष का, अथवा इष्टानिष्ट का द्वन्द्व ? क्या माता भी करती है अपनी सन्तान में कभी ऐसा भेद ? प्यार कर सबसे, हृदय से लगा-सबको, आत्मसात् कर सबको, अपने से चिपटा ले सबको, अपने में समा ले सबको। (देखो २६.१०)।

(१०) इसमें और मुझमें क्या अन्तर है। इसमें भी 'मैं', मुझमें भी 'मैं'। दोनों में क्या अन्तर है। सबमें सर्वत्र यह 'मैं', ही तो प्रतिबिम्बित हो रहा है। इसके अतिरिक्त और दिखता ही क्या है यहाँ ? जिसे अपनी तथा अपनी भावनाओं की खबर नहीं ऐसे दृष्टि-विहीन को भले सब में और अपने में कुछ अन्तर या भेद दिखाई दे, परन्तु दृष्टिसम्पन्न के लिये क्या भेद, कैसा भेद। सब में सर्वत्र इस 'मैं मैं मैं' का ही तो विलास है। भले गणना में अनेक हों, सबके शरीरों में पृथक्-पृथक् हों, परन्तु केवल चैतन्य को, केवल तत्त्व को लक्षित करने वाली दृष्टि में इस भेद को भी अवकाश कहाँ, इस द्वैत का भी विकल्प कहाँ। उसके लिये तो सब में सर्वत्र एक चित्पिण्ड ही लक्षित हो रहा है, अन्य कुछ नहीं। सकल द्वैत भ्रान्ति बनकर रह जाता है यहाँ, इस निर्विकल्प चिज्ज्योति में। और यह जड़ पदार्थ ? यह भी इस 'मैं' का शरीर ही तो है और इसलिये 'मैं' ही तो है। आवास तथा आवासी का भेद भी तो उदित नहीं हो रहा है यहाँ, इस परम समाधि में। कौन-सा पदार्थ ऐसा है जो इस समय मुझे 'मैं' रूप नहीं दीख रहा है। मनुष्य भी 'मैं' रूप, पशु पक्षी भी 'मैं' रूप, यह जीवित आवास भी 'मैं' रूप और ये सकल मृत आवास भी 'मैं' रूप। सर्वत्र एक 'मैं' ही 'मैं', चेतन प्रभु ही चेतन प्रभु। सब में एक रूप से प्रतिभासित यह 'मैं' ही तो है वह चेतन महा-प्रभु, वह सत्य तत्त्व जिसे विद्वान लोग कहते हैं 'ब्रह्म'। इस प्रकार देखने पर सब में सर्वत्र सर्वरूप एक ब्रह्म ही ब्रह्म दीखता है, अन्य कुछ नहीं **'एकं ब्रह्म द्वितीयो नास्ति, सर्व खल्विदं ब्रह्म'**। अहा हा ! कितना महिमावन्त है इस 'मैं' का स्वरूप समता का उच्चतम आदर्श।

नोट—७-१० तक के इन चार चित्रणों का तात्त्विक समन्वय पहले किया जा चुका है। (देखो २६.११)।

(११) कितना बड़ा कारखाना है तेरा यह अखिल विस्तार। कोई पुर्जा छोटा और कोई बड़ा, परन्तु सब एक दूसरे के साथ जुड़े हुए, इस प्रकार कि न हटाया जा सकता है कुछ और न बढ़ाया जा सकता है कुछ। फिर क्यों विकल्प करता है किसी को बनाने का और किसी को बिगाड़ने का, किसी को मिलाने का और किसी को हटाने का, किसी को तोड़ने का और किसी को जोड़ने का ? सदा से चलता रहा है यह इसी तरह और सदा चलता रहेगा यह इसी तरह, न कभी रुका है और न कभी रुकेगा। तात्त्विक स्वभाव के अतिरिक्त न कोई चलाने वाला है इसे और न रोकने वाला। केवल तमाशा देखा कर इसका, अपने कला-कौशल का। केवल देख इसे और देखता ही रह, बिना कुछ करने का विकल्प किए, साक्षी मात्र रह कर, ज्ञाता मात्र रह कर। (देखो १२.८)।

(१२) ओ चित्त ! क्यों व्यर्थ व्यग्र हो रहा है करने-धरने के विकल्पों में उलझकर, जाने-आने के विकल्पों में उलझकर, कहने-सुनने के विकल्पों में उलझकर ? एक अखण्ड तात्त्विक व्यवस्था है यह, बाहर भी और भीतर भी, काल की, महाकाल की। सब कुछ स्वतः निकला आ रहा है उसमें से और सब कुछ समाया जा रहा है उसमें। तेरी सत्ता ही कितनी है इस महा-शक्ति के सामने। याद रख पिस-कर रह जायेगा। क्या नहीं देख रहा है कि तेरे जैसे कितने मूर्ख नित्य आ रहे हैं इसकी झपेट में और पिस-पिसकर नष्ट हुए जा रहे हैं यहाँ, दीप-शिखा पर स्वयं आ-आकर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भस्म होने वाले पतंगों की भाँति। सम्भल, सम्भल, बस आगे न बढ़, यहाँ खड़ा रहकर ही देख तमाशा तथा महिमा इस महा-तत्त्व की।

(१३) हे 'मैं' रूप में प्रकाशित अन्तस्तत्त्व ! देख-देख तू है अकेला, सर्व अन्तरंग विकल्पों से तथा चार कोटि के पर पदार्थों से रहित (देखो ९.३), ज्ञान-ज्योति भगवान आत्मा। कितना शान्त है तेरा यह रूप और कितना सुन्दर, परन्तु हृदय-गुफा में छिपा-छिपा सा कुछ साँवला-साँवला सा। फिर भी हे श्याम-सुन्दर ! क्यों भटकता है तू कभी इस फूल पर और कभी उस फूल पर, रसलौलुप भँवरे की भाँति, छोड़कर अपनी पति-परायणा राधिका को अर्थात् अपनी आराधना को, शान्ति की आराधना को, इसकी साधना को ? क्या कुछ कम सुन्दर लगती है तुझे यह ?

९. निरीह वृत्ति—यह है धर्म-ध्यान का चौथा रूप-'तत्त्व-चिन्तन', मन्त्रजाप्य स्तोत्र पाठ तथा भावना-भावन इन तीन रूपों से कुछ ऊँचा। और अब चलता है उसका पाँचवाँ रूप 'निरीह वृत्ति'।

जिस प्रकार पानी से भरे लोटे को एक बार प्रयत्न पूर्वक घुमा देने के उपरान्त वह इशारे मात्र से ही बराबर घूमता रहता है, अथवा जिस प्रकार किसी मोटर या ऐञ्जिन को एक बार पूरी तरह शक्ति के प्रयोग द्वारा चला देने के उपरान्त वह अल्पमात्र शक्ति के प्रयोग से ही बराबर चलता रहता है, अथवा जिस प्रकार किसी उच्छृङ्खल घोड़े को एक बार अनेकविध उपायों द्वारा साध लेने के उपरान्त वह बिना किसी प्रयोग-विशेष के, स्वामी के इशारे पर बराबर चलता रहता है; उसी प्रकार चित्त को बुद्धि के प्रयत्नपूर्वक चतुर्विध ध्यानों द्वारा साध लेने के उपरान्त वह बिना किसी जाप्य या चिन्तन आदि का आश्रय लिए, बुद्धि या विवेक के इशारे पर चलता रहता है। किसी विषय की ओर उन्मुख हो जाने पर जिस प्रकार पहले वह कर्मधाराओं में बह जाता था, उस प्रकार अब नहीं बहता, प्रत्युत ज्ञानधारा में ही स्थित रहता है, अर्थात् उस विषय को ज्ञाता दृष्टारूप साक्षी भाव से जानता मात्र है, उसके साथ रागद्वेष-मिश्रित इष्टानिष्ट आदि रूप व्यर्थ के द्वन्द्वात्मक विकल्प नहीं करता। (देखो १०.२३)

धर्म-ध्यान के इस क्षेत्र में किसी पदार्थ या विषय का जानना अनिष्ट नहीं है, अनिष्ट है उसके साथ-साथ बिना बुलाये आने वाले वे द्वन्द्वात्मक विकल्प जो कि साधक के अन्तस्तल को क्षुब्ध करके उसे अशान्ति के अथाह सागर में धकेल देते हैं। ज्ञान तो दर्पण है, जो भी उसके समक्ष आए उसे ही जान ले, उसे कुछ भी जानना अनिष्ट नहीं, भले ही हों धर्म-ध्यान के उपर्युक्त चार रूपों में चित्रित धार्मिक तथा आध्यात्मिक भाव, अथवा हों धन, स्त्री, कुटुम्ब विषयक कोई लौकिक भाव। द्वन्द्वात्मक विकल्पों का उत्पत्ति-क्षेत्र न तो है ज्ञान और न हैं उसके विषय, प्रत्युत है केवल चित्त तथा उसके अनादिगत संस्कार, जिनकी शक्ति ध्यानाभ्यास द्वारा अब इतनी क्षीण हो चुकी है कि बुद्धि की उपस्थिति में या जागृति के कारण अब उन्हें उच्छृङ्खलता करने का साहस नहीं होता। बुद्धि भी पहले उन संस्कारों के कारण बहक जाती थी अर्थात् चित्त की उच्छृङ्खलता के प्रति जागृत रहते हुए बराबर उस पर दृष्टि रखने के जिस कार्य में ध्याता उसे नियोजित करता था, वह उन संस्कारों-वश अपने उस कर्त्तव्य को छोड़कर स्वयं चित्त का अनुकरण करने लगती थी। उससे पृथक् अपनी सत्ता का तथा अपने से पृथक् उसकी सत्ता का भान भी उसे नहीं रहता था। ध्यानाभ्यास के कारण उसने भी अब इस प्रकार बहकना छोड़ दिया है। अब वह बराबर अपने उक्त कर्त्तव्य के प्रति सतर्क रहती है।

इसलिए योगी को जाप्यादि करने की अब कोई आवश्यकता नहीं रह गई है। उसे अब केवल इतना ही करना होता है कि किसी भी एकान्त स्थान में पूर्वोक्त प्रकार निश्चल बैठकर चित्त को ढीला छोड़ दे और जाने दे उसे जहाँ भी वह जाना चाहता है, लेने दे उसे जिस-किसी भी विषय का आलम्बन वह लेना चाहता है, जानने दे उसे जिस-किसी भी विषय को वह जानना चाहता है। परन्तु बुद्धि को बराबर सतर्क रखता है और देखता रहता है केवल इतना कि चित्त कहाँ-कहाँ जा रहा है, और किस-किस विषय का आलम्बन ले रहा है अथवा किस-किस विषय को जान रहा है। स्वयं निरीह-वृत्ति से बैठा हुआ वह इतना मात्र ही प्रयत्न रखता है, इससे अधिक कुछ नहीं; न मन्त्र-जाप्य करता है, न स्तोत्रपाठ, न भावना-भावन और न तत्त्व-चिन्तन। बस इतने मात्र से उसके प्रयोजन की सिद्धि हो जाती है। चित्त में द्वन्द्वात्मक विकल्प प्रवेश नहीं पाते। ज्ञान दर्पण में चलचित्र की भाँति पदार्थ आते रहते हैं और जाते रहते हैं; कुछ अल्पकाल मात्र रहकर चले जाते हैं और कुछ अधिक काल रहकर। इस प्रकार ज्ञातादृष्टा भावरूप ज्ञानधारा में ही

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

स्थित रहता है वह, कर्त्ता-भोक्ता बनकर कर्मधारा में नहीं बहता है वह। इस प्रकार मोह-क्षोभ-विहीन नीरंग व निस्तरंग समता-माता की प्यार भरी गोद में विश्राम करता रहता है वह।

१०. पदस्थादि ध्यान—यह ही है धर्मध्यान की सर्वोन्नत भूमि, जिससे आगे चलकर योगी प्रवेश करता है शुक्लध्यान की अन्तिम भूमि में। आगम में इन ध्यानों के लिए कुछ अन्य भी सैद्धान्तिक नामों का प्रयोग किया गया है। 'मन्त्रजाप्य' तथा 'स्तोत्रपाठ' वाले प्रथम दो ध्यान कहे जाते हैं **'पदस्थध्यान'** क्योंकि इनमें पद अर्थात् शब्द का अथवा दृष्ट पदार्थ के नाम का अवलम्बन रहता है। 'भावना-भावन' वाली तृतीय भूमिको **'पिण्डस्थध्यान'** कहा जाता है, क्योंकि वे सब भाव पिण्ड अर्थात् देह के सापेक्ष होते हैं। 'तत्त्व-चिन्तवन' तथा 'निरीह-वृत्ति' वाली चतुर्थ व पँचम भूमियें **'रूपस्थध्यान'** कहलाती हैं, क्योंकि इसमें न तो शब्द या नाम का आलम्बन होता है और न देह-सापेक्ष किसी भाव का, होता है केवल तत्त्व के स्वरूप का। निरीह-वृत्ति वाली पञ्चम भूमि में यद्यपि देह-सापेक्ष तथा देह-निरपेक्ष लौकिक तथा अलौकिक सभी पदार्थ ज्ञान के विषय बन जाते हैं, परन्तु रागद्वेषात्मक द्वन्द्वों का अभाव होने के कारण उसका समावेश पिण्डस्थ ध्यान में न करके इस तात्त्विक रूपस्थ ध्यान में ही करना अधिक उपयुक्त है। इसके पश्चात् आता है **'रूपातीतध्यान'** और वही कहलाता है शुक्लध्यान—नामरूप के आलम्बन से अतीत होने के कारण रूपातीत और केवल चिज्ज्योति मात्र का दर्शन होने के कारण शुक्ल।

११. शुक्लध्यान—चित्त लय हो जाने के कारण भले रागद्वेषात्मक द्वन्द्व शेष न रह गए हों परन्तु बुद्धि जागृत रहने के कारण अन्तर्पट पर होने वाली विषयों की भागदौड़ तो अभी जीवित है ही। भले रागद्वेषात्मक उत्तराल तरंगों वाला क्षोभ शान्त हो गया हो इस महासागर का परन्तु ज्ञानात्मक क्षुद्र तरंगों वाला क्षोभ तो शान्त नहीं हो पाया अभी। भले ही दृष्टि में बाह्य जगत का लोप हो जाने के कारण पूर्णत: नीरंग हो गया हो वह, मोह-हीन हो गया हो वह परन्तु अन्तरंग में यह ज्ञानात्मक सूक्ष्म-जगत लुप्त न होने के कारण पूर्णत: निस्तरंग नहीं हो पाया है वह, क्षोभ-हीन नहीं हो पाया है वह। मोह-क्षोभ-विहीन साम्यरस बढ़ता जा रहा है, विशुद्धि में प्रतिक्षण अनन्तगुणी वृद्धि होती जा रही है, चारित्र बराबर ऊपर उठता चला जा रहा है, ज्योतिर्लोक की सीमाओं में प्रवेश पा गया है परन्तु पूर्ण नही हो पाया है वह, साक्षात् रूप से ज्योतिर्लोक का वासी नहीं हो पाया है वह।

तथापि इतने मात्र से योगी निराश होने वाला नहीं। तप के प्रभाव से उसकी शक्ति में अनन्तगुणी वृद्धि हो चुकी है, उसके सहायकों की गति वेगवती हो चुकी है और शत्रु सेना दुम दबाकर भागी जा रही है। पीछा करता है यह महा सुभट उनका। बीज तक नाश करने का संकल्प किया है इसने उनका। चित्त तो पहले ही शरण में जा चुका था अपनी जननी बुद्धि की, और लो अब यह बुद्धि भी चली, भय के मारे काँपती हुई, शरण में अपनी जननी वासना की, जागृत वासना की नहीं प्रसुप्त वासना की, क्योंकि वह तो मूर्च्छित हो चुकी थी पहले ही, अपना कार्य करने में बिल्कुल असमर्थ। अत्यन्त क्षीणकाय वह अब कैसे रोक सकती है अन्तर्प्रभु के दर्शन को ? एक ओर चेतन सूर्य का अतुल प्रकाश और दूसरी ओर इसका झीना सा आवरण, कैसे रुक सकता है वह ? खुल गए हृदय गुहा के द्वार और हो गया योगी को साक्षात् उस महाप्रभु का एक अनिर्वचनीय ज्योति के रूप में, और इसीलिए कहलाता है यह शुक्लध्यान।

चुन्धिया गईं आँखें योगी की, परन्तु दौड़ा वह बेतहाशा अपने प्रिय की ओर, उससे चिपट जाने के लिये, उसमें लय हो जाने के लिये। वासना की बची-खुची सेना भस्म हो गई इस महा तेज में और जगज्जननी वासना भी समा गई उसी की कोख में। लय हो गया सब कुछ—चित्त गया बुद्धि में, बुद्धि गई वासना में, वासना गई महाप्रभु की कोख में। न रहा मैं और न रहा तू, न रहा बाह्य जगत और न रहा भीतरी जगत। 'मैं' रूप अहंकार ही निःशेष हो गया तब योगी भी कहाँ ? भले ही प्रतीति होती रहे उसे परं ज्योति की, परन्तु 'मैं अमुक नामधारी योगी' ऐसी द्वैत-प्रतीति कहाँ है अब उसे ? वह भी लीन होकर निःशेष हो गई उसी में। रह गई एक अनिर्वचनीय शान्ति तथा समतायुक्त ज्योति, सच्चिदानन्द परमेश्वर, महातत्त्व, स्वतत्त्व, इसके अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं। शून्य में समा गया सब कुछ, बुझ गया दीपक चित्त का। यही है बौद्ध का निर्वाण, माध्यमिक का शून्य और जैन का मोक्ष।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

४२. उत्तम-त्याग

१. त्याग व ग्रहण; २. आदर्श त्याग।

१. त्याग व ग्रहण—अहो त्याग-मूर्ति वीतरागी गुरुदेव ! सर्व बाह्य परिग्रह के, अन्तरंग विकल्पों के तथा अभिलाषाओं के पूर्ण त्याग-आदर्श ! मेरे जीवन को भी शान्ति-प्रदायक यह त्याग प्रदान करो। अचिन्त्य है महिमा इस त्याग की, शान्ति की खान है यह। धन-धान्यादि के ग्रहण में आज हम कुछ सुख की महिमा देखते हैं, पर एक वह जीवन भी है जो इसमें साक्षात् दुःख देखता है। अभिप्राय के फेर से विष भी अमृत भासने लगता है, क्रोध कषाय जागृत होने पर मृत्यु भी इष्ट हो जाती है। कितना बड़ा अन्तर है दोनों के जीवन में ? एक वह जीवन है जिसमें से यह पुकार निकल रही है कि 'और ग्रहण कर, और ग्रहण कर', और एक वह जीवन है जो मूक भाषा में कह रहा है कि 'और त्याग कर, और त्याग कर।' एक वह जीवन है जो कह रहा है कि 'धनादि सम्पदा में सुख है, इसमें ही सुख है', और एक वह जीवन है जो कह रहा है कि 'इसमें ही दुःख है, इसमें ही दुःख है।' एक वह जीवन है जो कह रहा है कि 'इसके बिना मेरा काम नहीं चलेगा', और एक वह जीवन है जो कह रहा है 'इसके रहते हुए मेरा काम नहीं चलेगा।' एक वह जीवन है जो कह रहा है 'धन चाहिए, 'धन चाहिए' और एक वह जीवन है जो कह रहा है कि 'धर्म चाहिए, धर्म चाहिये।' अहो ! अभिप्राय का माहात्म्य। नुकते के हेर-फेर से 'खुदा' से 'जुदा' हो जाता है। ऊपर का नुकता नीचे कर देने मात्र से उर्दू में लिखा 'खुदा' शब्द 'जुदा' पढ़ा जाता है। इसी प्रकार शान्ति पर से अभिप्राय को हटाकर सम्पदा पर लगा देने से सच्चिदानन्द स्वरूप तू व्याकुलता की विकराल दाढ़ का चबीना बन जाता है।

यह कैसे अनुभव में आवे कि ग्रहण में दुख है ? जब एक क्षण को भी किंचित् मात्र निराकुलता का स्वाद न चख ले तब तक कैसे पता चले कि इसमें दुःख है ? भले गुरुदेव के कहने पर कह दूं कि हाँ हाँ यह दुःखों का मूल है, पर अन्तरङ्ग में तो ऐसा नहीं भासता। कैसे भासे ? निराकुलता से व्याकुलता में जाये तो पता चले कि व्याकुलता में आया है, पर व्याकुलता छोड़कर पुनः व्याकुलता में ही जाए तो कैसे पता चले कि व्याकुलता है यह ? यदि धनोपार्जन की व्याकुलता को छोड़कर उसकी रक्षा की व्याकुलता में घुस गया तो बात तो ज्यों की त्यों ही रही। उल्लू सदा अन्धकार में रहता है, क्या पता बेचारे को कि यह अन्धकार है ? उसके लिए तो वही प्रकाश है। यही तो हालत है मेरी आज, कैसे पता चले कि ग्रहण में दुःख है ? कुछ थोड़ा-सा त्याग करके देखूँ तो पता चले कि इतने से त्याग से जब कुछ शान्ति आई है तो तो पूर्णत्याग करके इस योगी को कितनी शान्ति आई होगी। आज मुझे त्याग में कष्ट प्रतीत होता है और इसीलिए योगी के जीवन को कष्ट का जीवन मानता हूँ। किंचित् त्याग करके देखूँ तो पता चले कि त्याग-मूर्ति इन योगीश्वरों का जीवन कितना सुखी है।

'अपरिग्रह' नामक ३३ वें अधिकार में एक साधु का दृष्टान्त दिया है जिसमें एक साधारण सी ऐलुमिनयम की कटोरी भी उसके लिए भार बन गई। उसे त्यागकर उसने सन्तोष की सांस ली। त्याग से ग्रहण में आकर ही पता चला साधु को कि कितना दुःख है ग्रहण में, इसी प्रकार ग्रहण से त्याग में आकर ही पता चल सकता है कि कितना सुख है त्याग में। योगी का जीवन कष्ट में नहीं शान्ति के झूले में झूलता है, अभिप्राय बदल चुका है उसका। शान्ति के स्वाद के सामने कौन पड़े इस जंजाल में, चुपड़ी खाने वाले को कैसे रुचे कच्चे चने चबाना ? कोई ढेर भी लगा दे उनके सामने स्वर्ण या हीरों का तो आकर्षण की तो बात नहीं, उसे उपसर्ग समझें। उन पर दया करके, 'हाय, बेचारे ठिठुर रहे हैं सर्दी के मारे, एक कम्बल ओढ़ा दो उन्हें', ऐसा विचारकर अपने शरीर पर से कम्बल उतारकर उनके शरीर पर डाल दो, और समझ बैठो हृदय में कि चैन पड़ गई होगी उन्हें। यह उनसे पूछो कि क्या बीत रही है उनके हृदय पर, एक बड़ा भारी उपसर्ग आ पड़ा है मानो। उनकी शान्ति घाती गई है, विकल्प उठ गये हैं।

राजपुत्र थे दो। दोनों सहोदर भाई। वैरागी हो गए पर अभिप्रायों में महान अन्तर। दोनों ही ने स्वयं राज्य छोड़ा, सम्पदा छोड़ी, परन्तु अन्दर में एक समझता रहा यह कि उसमें सुख है और एक ने समझ लिया यह कि उसमें दुःख है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

फलितार्थ, एक करने लगा शान्ति रस की सिद्धि और दूसरा करने लगा स्वर्ण रस की सिद्धि। दोनों ही सफल हो गए अपने-अपने प्रयोग में। एक को शान्ति-रस के साथ-साथ मिल गई उसकी दासी भी अर्थात् स्वर्ण बनाने की ऋद्धि भी, और दूसरे को मिला केवल दास, स्वर्ण-रस। ऋद्धि मिलने पर भी पहले ने आँख न उठाई उसकी ओर और दूसरे के हर्ष का पारावार न रहा। भाई की खोज कराई और यह जानकर कि नग्न बने बड़ी दरिद्रता की दशा में जीवन बिता रहें हैं वे, दयापूर्वक आधी तुम्बी स्वर्ण-रस की भेज दी उनके पास। वीतरागी को आवश्यकता ही कहाँ थी उसकी, ठोकर मार दी उसे। तुम्बी लुढ़क गई। यह समाचार सुनकर दुःख से रो उठा भाई का हृदय और चल पड़ा स्वयं शेष आधी तुम्बी लेकर। रख दी वह भी भाई के चरणों में। पुनः ठुकरा दी उसने। रो पड़ा भाई। १२ वर्ष की तपस्या यों ही बह गई। "भाई ! यह क्या किया ? दरिद्रता ने तुम्हारी बुद्धि बिल्कुल ही हर ली है, यह मैं नहीं जानता था।" अब बरसने लगा अमृत शुभचन्द्र के मुख से, "भाई ! जाग, स्वर्ण चाहिए तो राज्य क्यों छोड़ा था ? शान्ति लेने निकला था कि स्वर्ण ? स्वर्ण ही चाहिए तो ले भर ले जितना चाहे", और एक चुटकी रज की अपने तलवे के नीचे से निकालकर फैंक दी पहाड़ पर। पर्वत स्वर्ण का बन गया। "ग्रहण में से शान्ति निकालना चाहता है तू ? शान्ति ग्रहण में नहीं त्याग में है। शान्ति चाहिए तो मुझ जैसा बनना होगा, जिसके पास अटूट स्वर्ण-भण्डार होते हुए भी उसका ग्रहण नहीं करता", और रच गया यह ग्रन्थ जो आपके सामने है, 'ज्ञानार्णव'। आँखे खुल गई स्वर्ण-गृद्ध भाई की। ग्रहण का अभिप्राय जाता रहा, त्याग का अभिप्राय जागृत हुआ और आज वैराग्यशतक आदि अनेकों उसकी वैराग्य-रसपूर्ण कृतियें भारत में बहुत ऊँची दृष्टि से देखी जाती हैं।

२. **आदर्श-त्याग**—दूसरी दृष्टि से भी इस त्याग की महिमा देखिये। गुरुदेव ने कर दिया सर्वस्व त्याग इसलिए कि दूसरे इससे लाभ उठायें। उन्हें स्वयं आवश्यकता नहीं तो वे भी क्यों वञ्चित रहें इससे, जिनको कि इसकी आवश्यकता है ? अर्थात् कर दिया सर्वस्व का दान उनको जो झोली फैलाये खड़े पुकार रहे थे उनके सामने 'हाय पैसा, हाय धन'। सेठ साहब ने सड़क पर जाते एक साधु को दया करके एक पैसा दे दिया। साधु सोचने लगा कि क्या करूँ इसका ? किसी माँगने-वाले के हाथ में जाता तो कुछ काम आता उस बेचारे के, मेरे किस काम का। अच्छा देखो कोई भिखारी आयेगा तो दे दूँगा उसे। इतने में दिखाई दिया सिकन्दर का लश्कर, बड़े वेग से चला जाता था घोड़े दौड़ाये। बस फैंक दिया साधु ने पैसा उसी ओर। सिकन्दर के मस्तक में जा लगा वह। चौंका सिकन्दर, किसने फेंका है यह तुच्छ पैसा ? पकड़ लो इस साधु को। साधु आया। "क्यों जी तुमने फेंका है यह पैसा ?" "हाँ"। "क्या समझकर ?" साधु बोला, "विचारा था कि कोई भिखारी है। बेचारा, भूखा है, अपना देश छोड़कर यहाँ आया है अपनी भूख मिटाने, चलो यह पैसा भी इसे ही दे दो काम आयेगा इसके, मुझे क्या करना है इसका ?" सिकन्दर की आँखें खुल गई, पर हमारी आँखें आज तक नहीं खुलीं।

अपने को सुखी दानी मानने वाले भी चेतन ! क्या सोचा है कभी यह कि तू दानी है कि भिखारी ? इतना मिलते हुए भी जिसकी भूख, जिसकी तृष्णा, जिसकी अभिलाषा शान्त नहीं हो रही है, वह क्या देगा किसी को ? जिसको तू भिखारी समझता है उसका पेट तुझसे बहुत छोटा है, फिर तू दानी कैसे बना ? तू तो उससे भी बड़ा भिखारी है, 'और ला, और ला' की ध्वनि से मानो तेरा सर चकराया जा रहा है, घुमेर आ रही है। उल्टा दीख रहा है तुझे, भिखारी को दानी और दानी को भिखारी मानता है तू। दानी देखना है तो देख उस योगी को जिसने सर्वस्व डाल दिया है तेरी झोली में, सर्वस्व त्याग दिया है तेरे लिए। दानी बनना चाहता है तो त्याग कर ग्रहण नहीं, त्याग भी निःस्वार्थ त्याग, अपनी शान्ति के लिए सर्व सम्पदा का त्याग या किंचित् मात्र का त्याग।

आज एक ही ध्वनि है चारों ओर। 'जीवन स्तर को ऊँचा उठाओ, स्टैण्डर्ड आफ लिविङ्ग में वृद्धि करो।' परन्तु गुरुओं के आदर्श को भुला बैठने वाले बेचारे क्या जानें कि जीवन का स्तर किसे कहते हैं ? जिस ओर वे जा रहे हैं वह जीवन का स्तर है कि मृत्यु का, शान्ति का स्तर है कि व्याकुलता का, सन्तोष का स्तर है कि अभिलाषाओं का, निश्चिन्तता का स्तर है कि चिन्ताओं का ? खेद है कि मृत्यु के स्तर को जीवन-स्तर समझ बैठने वाला आज का भारत उन्नति की बजाये अवनति की ओर जा रहा है, और मजे की बात यह कि दूसरों को उपदेश देने चला है शान्ति का। 'शान्ति' विलासिता या ग्रहण में नहीं है भाई ! त्याग में है। 'जितना ग्रहण उतनी अशान्ति और जितना त्याग उतनी शान्ति', यह है यहाँ की महान आत्माओं का उपदेश। उसे सुनो, अपनाओ और देखो कि जीवन शान्त हो जायेगा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अपने जीवन में उतारे बिना दूसरों को उपदेश देना अनधिकृत चेष्टा है। एक स्त्री किसी साधु के पास जाकर बोली कि 'मेरा लड़का मीठा बहुत खाता है, तंग आ गई हूँ, कोई उपाय बताइये।' साधु बोला कि तीन दिन पीछे आना। वह तीन दिन पीछे आई तो फिर बोला सात दिन पीछे आना। वह सात दिन पीछे आई तो फिर बोला कि दस दिन पीछे आना। और इसी प्रकार दो महीने बीत गये, स्त्री निराश होती गई। पर दो महीने पश्चात् साधु बोले कि अपने लड़के को मीठा देना बन्द कर दो, उसका सुधार हो जायेगा। स्त्री को यह सुनकर बड़ा आश्चर्य हुआ, 'कौन नई बात बताई है महाराज ने, दो महीने पहले ही क्यों नहीं कह दिया था आपने ? इतने दिन व्यर्थ ही पीछे-पीछे घुमाया।' 'ऐसा नहीं है देवी ! इतने दिनों तक मैं खाली नहीं बैठा, तेरे लिए उपाय ही सोचता रहा और अपने जीवन में उतारकर जब यह देख लिया कि बिना मीठा खाये भी काम चल सकता है तभी कहा है तुझे कि मीठा न देना।' अतः भो प्राणी ! अपने जीवन में त्याग का आदर्श उतारे बिना दूसरे को त्याग का उपदेश देना तुझे शोभा नहीं दे रहा है। भले थोड़ा ही जीवन में उतार, पर जितना कुछ जीवन में उतारा जाए उतना ही दूसरों को उपदेश देना कार्यकारी है।

आदर्श-त्याग की शरण में जाकर मेरा ग्रहण की रौ में बहते जाना क्या शोभनीक है, क्या इसे त्यागी गुरु का आश्रय कहा जा सकता है ? कुछ तो ले ले गुरुदेव से ? भले धन न छोड़, पर घर के अड़ंगे को तो कम कर सकता है। उसमें लौकिक रीति से भी तेरा लाभ ही है। भले उसे भी किसी को मुफ्त में मत दे, मोल बेच दे, उसका रुपया बनाकर अपने पास ही रख, पर उसे कम करके देख तो सही। बीस-कुर्सियों में से केवल दो रख, बाकी की बेच डाल, और फिर देख यदि कुछ शान्ति मिलती है तो आगे त्याग देना नहीं तो आठ की बजाये बारह और खरीद लेना।

गुरुदेव का त्याग इससे भी अधिक तथा अनुपम है, उसकी महिमा अचिन्त्य है। यह धन-वस्त्रादि का त्याग व दान तो तुच्छ सी बात है, वे तो उस वस्तु का त्याग कर रहे हैं अर्थात् दान दे रहे हैं, जो कोई नहीं दे सकता। किसी एक को नहीं, समस्त विश्व को दे रहे हैं, शब्दों में नहीं जीवन से दे रहे हैं, रोम-रोम से दे रहे हैं, शान्ति का सन्देश, शान्ति का उपदेश, शान्ति का आदर्श, जिसके सामने तीन-लोक की सम्पत्ति धूल है, उच्छिष्ट है, वमन है।

खेद है अपनी दशा पर कि अपना वमन जानते हुए भी मैं उसी को फिर से ग्रहण करने के पीछे दौड़ा चला जा रहा हूँ। जिस वस्तु को एक बार नहीं अनन्तों बार ग्रहण कर-करके छोड़ दिया वह वमन नहीं तो क्या है ? कौन-सी वस्तु यहाँ ऐसी दिखाई दे रही है जो तेरे लिए नई है ? देव बन-बनकर, इन्द्र बन-बनकर, चक्रवर्ती व राजा बन-बनकर कौन-सी वस्तु ऐसी रह गई है जो तूने न भोगी हो ? भूल गया है आज तू अपना पुराना इतिहास, इसी से नई लगती है यह। याद करे तो जान जाये कि हर भव में तूने इसे ग्रहण किया और हर भव में इसने तेरा त्याग किया। तू एक-एक करके इसे ग्रहण करता, इसका पोषण करता, और यह पुष्ट हो होकर एकदम तुझे आँखें दिखा देती। ऐसे कृतघ्नी को पुनः ग्रहण करने चला है, आश्चर्य है। अब तो आँखें खोल और इससे पहले कि यह तुझे त्यागे, तू इसे त्याग दे।

यह है उत्तम त्याग-धर्म, जो त्याग के लिए नहीं बल्कि शान्ति के ग्रहण के लिए है। शान्ति के अभिप्राय से रहित किया गया त्याग दुःख का कारण है, उसकी यहाँ बात नहीं है। ❑

एक ओर है त्याग और दूसरी ओर है ग्रहण। त्याग में है शान्ति और ग्रहण में है संघर्ष।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

४३. उत्तम आकिञ्चन्य

१. साध्यासाध्य विवेक; २. दृढ़ संकल्प; ३. आकिञ्चन्य; ४. सच्चा त्याग।

अहो ! सम्पूर्ण बाह्य व अन्तरङ्ग परिग्रह का त्याग करके, यथार्थ अकिञ्चन् अवस्था को प्राप्त गुरुदेव ! आपकी महिमा गाने को कौन समर्थ है ? आकिञ्चन्य-धर्म की बात चलती है। आकिञ्चन्य अर्थात् 'किंचित् मात्र भी मेरा नहीं है', ऐसा अभिप्राय महान धर्म है, मेरा स्वभाव है। अपने से अतिरिक्त कोई भी अन्य पदार्थ मेरा नहीं है', इसलिए शान्ति के उपासक का यह अभिप्राय उसका धर्म है। 'शान्ति मेरा स्वभाव है, मुझे वही चाहिए और कुछ नहीं। उस शान्ति को छोड़कर अन्य कुछ भी नहीं चाहिए।' यह है गर्जना उस योगी की, शान्ति के उपासक की।

१. साध्यासाध्य विवेक—परन्तु योगी कौन ? सभी तो योगी हैं। योगी का अर्थ है जुट जाने वाला। किसी लक्ष्य की प्राप्ति के लिए कमर कस कर जुट जाने वाला 'योगी' होता है। हम सभी तो कमर कस कर किसी लक्ष्य के प्रति जुटे हुए हैं। तो क्या हम योगी हैं ? हाँ अवश्य, परन्तु उपरोक्त योगी जैसे नहीं। अन्तर है अभिप्राय में। हमारा लक्ष्य है, 'मुझे तीन लोक की सम्पत्ति चाहिए, इसमें बाधा या इसके अतिरिक्त किंचित् मात्र भी मुझे सहन नहीं है, इसके सामने धर्म कर्म भी मुझे चाहिए नहीं।' और उपरोक्त योगी का लक्ष्य है, 'मुझे शान्ति चाहिए, इसमें बाधा या इसके अतिरिक्त किञ्चित् मात्र भी मुझे सहन नहीं, इसके सामने धन कुटुम्बादि भी मुझे चाहिए नहीं।' कितना महान अन्तर है योगी और योगी में। एक का लक्ष्य है असाध्य तृष्णा और दूसरे का लक्ष्य है साध्य शान्ति। विचार तो सही कि क्या तीन-लोक की सम्पत्ति का लक्ष्य पूरा हो सकेगा ? मृगतृष्णा में ही दौड़ता-दौड़ता मर जायेगा, सब कुछ यहीं छोड़ जायेगा, पुनः जन्मेगा, फिर उसी लक्ष्य को रखकर दौड़ता हुआ मर जायेगा। फल निकला केवल जन्म-मरण और अशान्ति, मृगतृष्णा की दाह। दूसरे का लक्ष्य है सच्चा साध्य वर्तमान में प्रयास करेगा, किञ्चित शान्ति प्राप्त होगी। मर जायेगा पर उसे साथ लेकर जायेगा। आगे जन्मेगा, फिर प्रयास करेगा, साथ लेकर गई हुई उस शान्ति में वृद्धि करेगा और दो चार बार में पूरी शान्ति प्राप्त कर लेगा। इसलिए उपरोक्त दो योगियों में से एक योगी है झूठा और दूसरा है सच्चा। अभिप्राय पर से ही पहिचान की जा सकती है इनकी।

आज के भी युग में एक योगी हुआ है महात्मा गाँधी। वही उपरोक्त पुकार थी—'मुझे स्वतन्त्रता चाहिये, इसके अतिरिक्त कुछ नहीं। तीन-लोक के प्रलोभन मेरे सामने आयें परन्तु मेरी पुकार बदलने न पाये। स्वतन्त्रता भी कम नहीं चाहिये पूरी चाहिये। किसी को भी किञ्चित् मात्र हस्तक्षेप करने की आज्ञा मैं नहीं दूँगा, किंचित् मात्र भी अंग्रेजों की सत्ता को मैं स्वीकार नहीं करूँगा, उनके बच्चे-बच्चे को मेरा देश छोड़ना होगा, मेरी स्वतन्त्रता छोड़नी होगी।' लक्ष्य साध्य था, क्योंकि स्वतन्त्रता मेरा जन्म-सिद्ध अधिकार है और इसलिए इस गर्जना का प्रभाव समस्त विश्व ने देखा। यदि आवाज यह हुई होती कि 'मुझे सर्व विश्व पर सत्ता चाहिये, इससे किंचित् मात्र भी कम मुझे स्वीकार नहीं' तो आप ही बताइये कि क्या यह पुकार सच्ची होती है ? बस तो प्रभु ! अपनी इस धन की पुकार को बदलकर कोई सच्ची गर्जना उत्पन्न कर। यदि वास्तव में शक्ति का उपासक है, शान्ति को लक्ष्य में लिया है तो सच्चे अभिप्राय से इसकी साधना कर।

२. दृढ़ संकल्प—यही गर्जना सच्चे योगियों में उठ रही है, शान्ति के उपासकों में उठ रही है, "मुझे शान्ति चाहिये, इसके अतिरिक्त किञ्चित् मात्र भी नहीं; धन-धान्य, घर-जायदाद, पुत्र-मित्र, स्त्री, विषय-सामग्री, वस्त्र इत्यादि की तो बात नहीं, उन्हें तो पहले ही त्याग बैठा हूँ, मुझे तो शरीर भी नहीं चाहिये, और इसके लिये आहार भी नहीं चाहिये। इतना ही नहीं अपनी शान्ति में किञ्चित् मात्र भी बाधा मुझे सहन नहीं, अतः ये संकल्प-विकल्प भी नहीं चाहियें, संस्कार भी नहीं चाहियें। इनके बच्चे-बच्चे को मेरा देश छोड़कर निकलना होगा, मेरी शान्ति छोड़कर भागना होगा। तीन लोक का बड़े से बड़ा प्रलोभन भी मेरी गर्जना को बदल नहीं सकता।" ओह ! कितना बल है इस गर्जना में और कितनी दृढ़ता, मानो आज सारा विश्व काँप उठा है इसे सुनकर। यह शान्ति प्राप्त करके ही हटेगा, एक दिन अवश्य देखने में आयेगा इसका प्रभाव। शान्ति चाहिये तो तू भी इतनी प्रबल गर्जना उत्पन्न कर, जिसमें बल तथा दृढ़ता हो।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

देखिए दृढ़ता की महिमा, एक सूखे से पतले-दुबले निर्धन ब्राह्मण चाणक्य के पाँव में चलते-चलते घुस गई कुशा। बस गर्जना निकल पड़ी, ' चाणक्य के पाँव में घुसने का साहस कैसे हुआ तुझे ? किञ्चित् मात्र भी तेरी सत्ता इस वन में न रहने पायेगी, तेरा बीज नाश कर दूँगा।' लगा सारे वन की कुशा को खोद-खोद कर उसकी जड़ों में छाछ डालने और तब तक चैन नहीं ली जब तक कि सर्वनाश न कर दिया उसका। नन्द राजा के मन्त्री ने भी देखा उसका यह दृढ़-संकल्प, मन ही मन विचारने लगा, "इसकी सहायता से अवश्यमेव मेरा प्रयोजन सिद्ध हो सकेगा, अर्थात् नन्द राजा से अपने अपमान का बदला ले सकूँगा।" चाणक्य के पास पहुँचा और बोला कि चलिए ब्राह्मण ! आज नन्द-राजा के घर ब्रह्मभोज है, और ले जाकर बैठा दिया उसे राजा की रसोई में। विलासी राजा नन्द आया, "अरे यह कालाकलूटा सूखा सा नर-कंकाल कहाँ से आया यहाँ ? निकाल दो इसे बाहर।" अपमान करके चाणक्य को बाहर निकाल दिया गया परन्तु एक गर्जना उत्पन्न हुई उस दृढ़-संकल्पी ब्राह्मण में, "नन्द ! इस अपमान का दण्ड भुगतना होगा, किञ्चित् भी तेरा शेष नहीं छोड़ूँगा, यह शिखा तभी बंधेगी जब तेरा बीज नाश हो जायेगा।" ओह ! कितना बल था उसकी गर्जना में और कितनी दृढ़ता, समस्त विश्व ने देख लिया उसका प्रभाव, नन्द का सर्वस्व नाश कर दिया गया। सत्ता आई सम्राट चन्द्रगुप्त के हाथों में, जिन्होंने पीछे दिगम्बर योग धारण करके वही उपरोक्त गर्जना उत्पन्न की अपने अन्दर, 'मुझे शान्ति चाहिये इसके अतिरिक्त किञ्चित् मात्र भी नहीं', और विश्व ने देख लिया उसकी गर्जना का प्रभाव।

३. आकिञ्चन्य—परन्तु इस गर्जना का आधार क्या वह है जो कि कल के वक्तव्य में आपने समझा अर्थात् 'सर्वस्व का त्याग, विश्व के लिये सर्वस्व का दान' ? नहीं ! ऐसा नहीं है। वस्तु का त्याग नहीं, वस्तु के देने का नाम दान नहीं। आकिञ्चन्य ही यथार्थ त्याग है, यथार्थ दान है, अर्थात् 'किञ्चित् मात्र भी मेरा नहीं है' यह धारणा ही त्याग है तथा दान भी। पहली गर्जना थी यह कि शान्ति के अतिरिक्त किञ्चित् मात्र भी मुझे नहीं चाहिए, और अब है यह कि शान्ति के अतिरिक्त किञ्चित् मात्र भी मेरा नहीं। 'मुझे नहीं चाहिए' और 'मेरा नहीं' इन दोनों में कुछ अन्तर प्रतीत होता है। पहली पुकार में ध्वनित होता है यह कि 'मैं ले सकता हूँ पर नहीं लूँगा' और दूसरी पुकार में ध्वनित होता है यह कि 'मैं ले ही नहीं सकता, जबकि मेरा कुछ है ही नहीं'। परन्तु वस्तुतः दोनों में अभिप्राय एक है, वास्तव में मेरा कुछ है ही नहीं।

जरा विचार करके देखो तो पता चल जाए कि यहाँ वास्तव में मेरा है ही क्या ? मेरी वस्तु वह हो सकती है जो सदा मेरी होकर रहे। जिन वस्तुओं को मैं 'मेरी हैं' ऐसा मानता हूँ, उन्हें मैं अपने साथ लेकर जाता नहीं, यहाँ रहते हुए सदा वे मेरे साथ रहती नहीं, फिर कैसे उन्हें 'मेरी' कह सकता हूँ ? वास्तव में 'मेरी' कहना कल्पना है, जिसके अन्तर्गत छः भूलें पड़ी हैं। इन भूलों का नाम है षट्कारक। व्याकरण में आप सबने पढ़े हैं—कर्त्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान व अधिकरण। इन छः के आधार पर ही मैं किसी वस्तु को 'मेरी' कहने का साहस करता हूँ। जैसे कि—पुत्रादि का पालन करता हूँ अतः मैं उनका कर्त्ता हूँ, उनका पालन मेरा कर्त्तव्य है अतः वे मेरे कर्म हैं, मेरे द्वारा उनका पालन होता है अतः मैं उनका करण हूँ, उनके लिए ही मैं सब न्याय-अन्याय कर रहा हूँ अतः वे मेरे सम्प्रदान हैं। उनका पालन करना मेरा स्वभाव है अतः वे मेरे अपादान हैं। मेरे आश्रय पर ही उनका जीवन टिक रहा है, अतः मैं उनका अधिकरण हूँ। इसलिए वे मेरे हैं। इसी प्रकार वे मेरी सेवा करते हैं अतः वे मेरे कर्त्ता हैं, मेरी सेवा करना उनका कर्त्तव्य है अतः मैं उनका कर्म हूँ, उनके द्वारा ही मेरी सेवा हो रही है वे मेरे करण हैं, मेरे लिए ही वे परिश्रम कर रहे हैं अतः मैं उनका सम्प्रदान हूँ, मेरी रक्षा करना उनका स्वभाव है अतः वे मेरे अपादान हैं उनके आश्रय पर मेरा यह जीवन सुख से बीत रहा है अतः वे मेरे अधिकरण हैं। अर्थात् मैं उनका कर्त्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान व अधिकरण हूँ, इसलिए वे मेरे हैं; और इसी प्रकार वे मेरे कर्त्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान व अधिकरण हैं, इसलिए मैं उनका हूँ। इसी प्रकार मैं धन का कर्त्ता (उपार्जन करने वाला), कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान व अधिकरण हूँ अतः धन मेरा है; और धन मेरा कर्त्ता (रक्षक), कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान व अधिकरण है अतः मैं धन का हूँ। इस प्रकार मैं उनके साथ अपना सम्बन्ध जोड़ लेता हूँ।

यदि शान्ति चाहता है तो भाई ! इस भ्रम को टाल। वास्तव में कोई भी तेरा नहीं। देख इस दृष्टान्त पर से विचार कर। एक अफीमची पड़े थे नदी किनारे वृक्ष के नीचे 'अरे ! अब कहाँ जाऊँगा, चलो भूखे ही सही, रात तो बीत ही जावेगी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यहाँ, प्रातः की प्रातः देखी जायेगी।' इतने में एक राजा का लश्कर आया, संध्या पड़ रही थी, नदी के किनारे डेरे लगा दिये, आन की आन में मंगल हो गया। 'अहा हा ! कितना सुन्दर नगर बस गया, कितने दयालु हैं प्रभु, अपने इस भक्त पर दया करके यहाँ ही नगर बसा दिया ? वाह-वाह कितना अच्छा हुआ, अब कहीं भी जाना न पड़ेगा, बस इस नगर में अब मौज से कटेगी।' प्रातः होने पर जब देखा कि रंग ही बदल गया, तम्बू उखड़ने लगे, कूच का बिगुल बजा, चारों ओर चलने-चलने की उछल-कूद मची तो फिर क्या था, मानो प्राण ही निकल गये। एक व्यक्ति से पूछा कि भाई ! किधर जा रहे हो ? उसने कहा "कौन हो तुम ?" अफीमची ने कुछ निराशाभरी आवाज में कहा, " मेरे ही लिए तो भेजा था न प्रभु ने तुम्हें ?" "अरे चल-चल ! कौन तू और कौन तेरा प्रभु ? अपनी मर्जी से आये थे और अपनी मर्जी से जाते हैं। न तुझसे पुछकर आये न तुझसे पूछकर जाते हैं। तू कौन होता है हमसे बात करनेवाला ?" और निराशा में डूबा रह गया बेचारा रोता का रोता।

क्या ऐसी ही दशा हमारी नहीं है ? पुत्र उत्पन्न हुआ, "अहा हा ! मेरी मुराद पूरी कर दी प्रभु ने, मेरे नाम को जीवित रखेगा यह' और न जाने क्या क्या ? खूब दान दो, खूब बाजे बजाओ, आज मेरा भाग्य जगा है।' और जिस दिन तम्बू उखड़ने लगे, पथिक जाने लगा ? 'अरे रे ! किधर जाते हो ?' 'कौन हो तुम ?' 'मेरे लिए भेजा था न प्रभु ने तुम्हें ?' 'हट हट, कौन तू और कौन तेरा प्रभु ? अपनी मर्जी से आया था और अपनी मर्जी से जाता हूँ। न तुझसे पूछकर आया न तुझसे पूछकर जाता हूँ, कौन होता है तू मुझसे बात करने वाला ?' और निराशा में डूबे रोने लगे आप। इतने विषाद का क्या कारण है, क्या सोचा है कभी ? क्या उस पुत्र का जाना कारण है ? ऐसा मानना तेरी भूल है। पुत्र का जाना विषाद का कारण नहीं है और न ही उसका आना विषाद का कारण था, अर्थात् 'जो यह न आता तो आज क्यों विषाद होता', ऐसा मानना तेरी भूल है। वास्तविकता तो यह है कि यदि तू उसके अन्दर उस समय, 'मेरे लिये भेजा गया है, मेरा नाम जीवित रखेगा' इस प्रकार की षट्कारकी भूलें न करता, तो आज यह विषाद न होता। इसी प्रकार लक्ष्मी के आने-जाने के सम्बन्ध में भी समझ लेना। दृढ़तया यह निश्चय किये बिना, कल्पना मात्र से नहीं बल्कि वास्तव में कि कोई भी पदार्थ षट्कारकी रूप से मेरा है ही नहीं, उपरोक्त गर्जना निकलनी असम्भव है।

४. सच्चा त्याग—ऐसा दृढ़ निश्चय होने के पश्चात् समझ में आ जायेगा कल के त्याग का रहस्य। मेरा कुछ है ही नहीं तो किसका त्याग ? किसी वस्तु का तीन काल में एक समय के लिए ग्रहण ही नहीं हुआ तो किसका दान ? न कुछ त्याग न कुछ दान, केवल मिथ्याबुद्धि का त्याग, मिथ्याबुद्धि का दान, बस इसके अतिरिक्त कुछ नहीं है त्याग का अभिप्राय। 'मैंने विश्व के लिए दान कर दी या त्याग दी' इस अभिप्राय में तो पड़ा है अभिमान, उस वस्तु का स्वामित्व अर्थात् 'मेरी थी मैंने त्याग दी' ऐसा आशय। यह त्याग पारमार्थिक नहीं, अर्थात् मेरा धर्म या स्वभाव नहीं प्रत्युत उसका साधन है, उसे हस्तगत करने का उपाय है।

देखो ! किसी समय मेरा एक लोटा आपके घर आया और पड़ा रहा वहाँ ही। माँगना भूल गया और आप देना भूल गये। प्रयोग में लाते रहे और यह विश्वास हो गया आपको कि वह आपका ही है। साल भर पश्चात् आपके घर मैं किसी कार्यवश आया, पीने को पानी माँगा, संयोगवश वही लोटा सामने आया। 'भाई साहब ! क्षमा करना, क्षोभ न लाना, यह लोटा तो मेरा है, यह देखो इस पर मेरा नाम खुदा है, साल भर से भूला हुआ था' और आपने भी नाम देखकर निश्चय कर लिया कि हाँ मेरा नहीं है। 'क्षमा करना भाई साहब बड़ी भारी भूल हुई मेरी, कहें तो नया मँगा दूँ, नहीं तो यही ले जाइये।' यही तो कहेंगे आप उसके उत्तर में या कुछ और ? अब इसी के सम्बन्ध में दूसरी कल्पना कीजिये। कोई भिखारी आता है आपके घर और आप दया करके वही लोटा दे देते हैं उसे। लोटे के त्याग की दो कल्पनायें आपके सामने हैं, एक मुझे देने की और दूसरी भिखारी को देने की। दोनों कल्पनाओं में ही आप देने वाले हैं और वही लोटा दिया गया है। विचारिये कुछ अन्तर है दोनों त्यागों में ? मुझे जो दिया उसमें तो दिया ही क्या, आपका था ही नहीं। भिखारी को दिया, सो अपना करके देने के कारण हो गया अभिमान, 'मैंने उस पर एहसान किया।' यह काहे का त्याग ? पहला वस्तु-स्वरूप के आधार पर है और दूसरा भ्रम व भूल के आधार पर। पहले में निर्विकल्पता है और दूसरे में अभिमान का विकल्प, पहले में शान्ति है और दूसरे में अशान्ति, इसलिए पहला त्याग सच्चा है और दूसरा झूठा।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यदि शान्ति की इच्छा है तो सच्चा त्याग कर, सच्ची गर्जना उत्पन्न कर। "यहाँ किञ्चित् मात्र भी मेरा नहीं, किसको ग्रहण करूँ और किसको छोड़ूँ ? शान्ति ही मेरा स्वभाव है, मेरा धन है, वही मुझे चाहिए, अन्य कुछ मेरा नहीं, वह मुझे चाहिए भी नहीं। अपनी स्वतन्त्रता मेरा अधिकार है, वही मुझे चाहिए, अन्य को परतन्त्र बनाना मेरा अधिकार नहीं, अतः परमाणु मात्र को भी परतन्त्र बनाने की मुझे इच्छा नहीं। अपने में षट्कारकी रूप से मैं कुछ कर सकता हूँ अतः अपने में ही कुछ करना चाहता हूँ, पर में षट्कारकी रूप से कुछ कर नहीं सकता अतः पर में कुछ करना भी नहीं चाहता।" यह है सच्ची गर्जना या सच्चा अभिप्राय, सच्चा आकिञ्चन्य-धर्म।

वास्तव में तो योगी-जनों ने ही इसे जीवन में ढाला है, पर आप भी अपने अभिप्राय को उपरोक्त रीति से बदलकर किञ्चित् उस धर्म के उपासक बन सकते हैं अर्थात् ऐसा अभिप्राय बन जाने के पश्चात् उन-उन वस्तुओं में भले रमणता करो, पर 'यह मेरा अपराध है' ऐसी बात अन्तरंग में स्वाभाविक रूप से आती रहे। बस वही होगा अपका आकिञ्चन्य धर्म। ❑

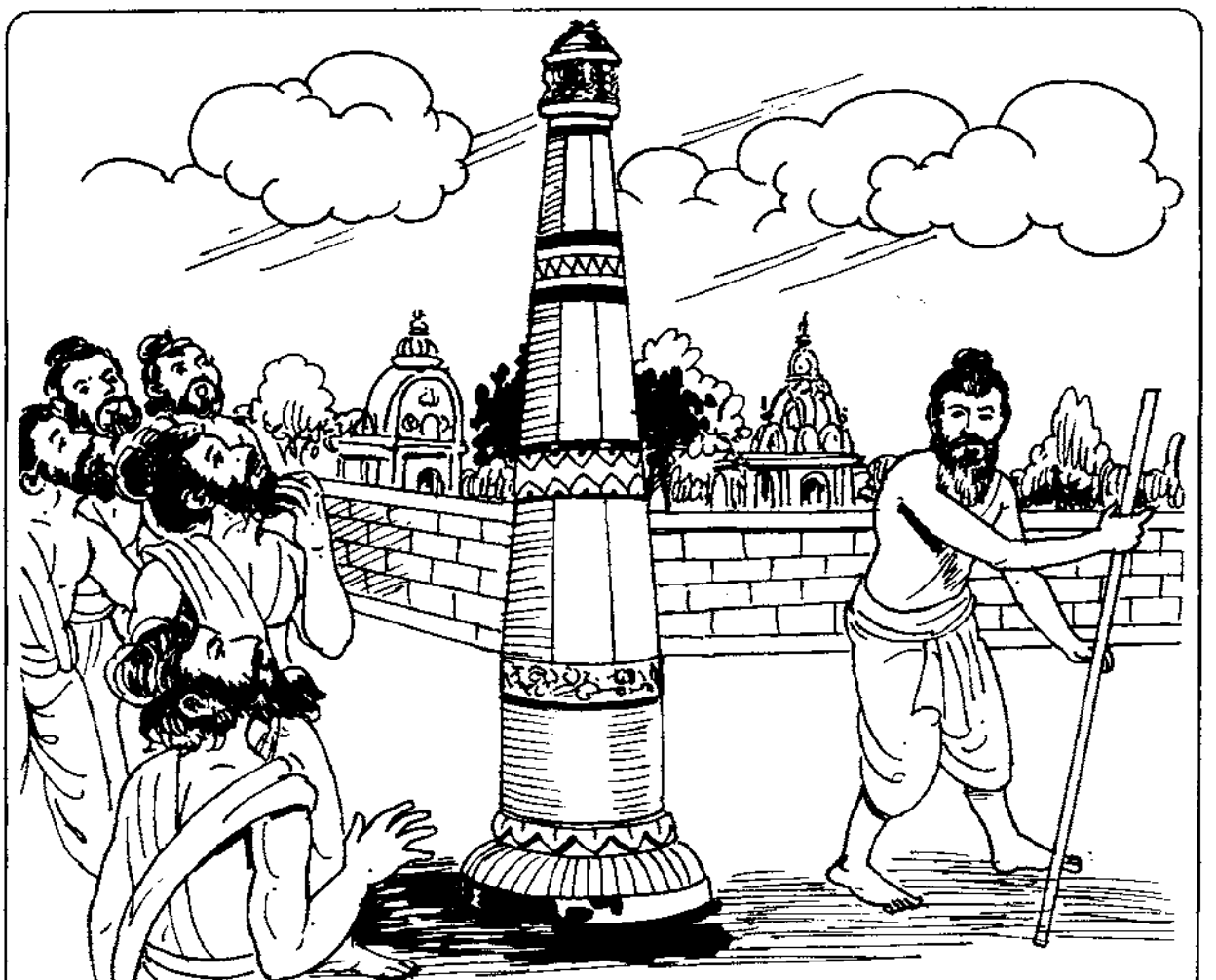

ज्यों ही मानस्तम्भ में विराजित समता मूर्ति पर दृष्टि गई, इन्द्रभूति की अन्तर्चेतन जागृत है गई, अभिमान गलित होकर आकिंचन्य अवस्था को प्राप्त हो गए।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

४४. उत्तम ब्रह्मचर्य

१. ब्रह्मचर्य; २. ब्रह्मचारी; ३. क्रमोन्नत विकास।

सच्चिदानन्द ब्रह्म में रमणता करके पूर्ण-परब्रह्म पद को प्राप्त, हे सिद्ध प्रभु ! मुझे ब्रह्मचर्य प्रदान कीजिए। गर्म घी के छीटों से दाह को प्राप्त हुए व्यक्ति की तरह अनादि काल से इन विषय-भोगों की दाह को प्राप्त मैं, आज अत्यन्त सन्तप्त हो आपकी शरण में आया हूँ। मेरा दाह शान्त कीजिए नाथ ! निज शान्ति के अतिरिक्त अन्य पदार्थों में रमण करता मैं, आज तक व्यभिचारी बना रहा, अब ब्रह्मचारी बनने की आशा लेकर, पूर्ण ब्रह्म की शरण में आया हूँ।

१. ब्रह्मचर्य—आज ब्रह्मचर्य की बात चलती है, लोक में जिसकी बहुत महिमा है। लोगों की दृष्टि में ब्रह्मचारी के लिए इतना ऊँचा स्थान क्यों ? क्या केवल स्त्री मात्र का त्याग कर देने पर इसका इतना ऊँचा स्थान है ? यह तो बात कुछ गले उतरती प्रतीत नहीं होती, क्योंकि स्त्री का त्याग करके अन्य विषयों में खूब, रमण करने वाले, न्याय अन्याय का विवेक न रखने वाले अत्यन्त कषायवान् तथा विलासी जीवों के प्रति बहुमान उत्पन्न होता नहीं देखा जाता है। क्यों ? क्या उन्हें स्त्री का त्याग नहीं है, और यदि है, तो क्या वे ब्रह्मचारी नहीं हैं ? नहीं वास्तव में ब्रह्मचारी नहीं हैं वे क्योंकि ऐसा होता तो स्वतः ही उनके प्रति बहुमान उत्पन्न हुए बिना न रहता। अतः ब्रह्मचारी का लक्षण केवल स्त्री-त्यागी नहीं है, इसका लक्षण उतना ही व्यापक है जितनी की इसकी महिमा। ब्रह्मचर्य के प्रकरण में जहाँ स्त्री के त्याग की बात को लक्ष्य में रखकर कहा गया है वहाँ पुरुष को सम्बोधन किया गया है। उपलक्षण से स्त्रियों को पति अथवा पुरुष के त्याग की बात समझ लेनी चाहिये।

ब्रह्म कहते हैं सच्चिदानन्द भगवान आत्मा को। उसमें चरण अर्थात् रमण करना, आचरण करना। अर्थात् निज-शान्ति में स्थिर होने का नाम है ब्रह्मचर्य। शान्ति के घातक जो संकल्प-विकल्प या रागद्वेषादि हैं, उनमें चरण करने का, रति-अरति रूप भाव करने का नाम है अब्रह्म, व्यभिचार, कामभाव, वेद-कषाय। या यों कहिये कि रागद्वेषादि की कारण जो पाँचों इन्द्रियों सम्बन्धी विषय-वासना तथा भोग-सामग्री, उसमें चरण करना, रमण करना सो है व्यभिचार। कल आकिंचन्य धर्म की बात के अन्तर्गत यह बताया गया था कि शान्ति के अतिरिक्त इस लोक में कोई भी पदार्थ मेरा नहीं, किसी को करने या भोगने का मुझे अधिकार नहीं। अतः किसी पदार्थ को इष्टानिष्ट समझकर करने या भोगने का प्रयत्न करना अपराध है, व्यभिचार है। अतः अंतरंग विकल्पों के अभाव की तथा निज-शान्ति की अपेक्षा ब्रह्म की उपासना कहो या ब्रह्मचर्य, एक ही अर्थ है; और पर पदार्थों में रमणता तथा बाह्य सामग्री, इनके त्याग की अपेक्षा व्रत कहो, त्याग कहो, दम कहो, संयम कहो, इंद्रिय-जय कहो या ब्रह्मचर्य कहो एक ही अर्थ है। इसीलिए ब्रह्मचर्य के शब्द के प्रति लोक में इतना बहुमान है।

२. ब्रह्मचारी—लोक में यद्यपि ब्रह्मचर्य की व्याख्या केवल स्त्री-त्याग पर से की जाती है, पर वास्तव में ऐसा नहीं है। यहाँ स्त्री शब्द का अर्थ सम्पूर्ण भोग सामग्री से है, क्योंकि वह 'लक्ष्मी' नाम से पुकारी जाती है। अतः लक्ष्मी में रमणता का नाम व्यभिचार है और लक्ष्मी के त्याग का नाम ब्रह्मचर्य। इसमें दो दृष्टियों से विचार करना चाहिए, एक ग्रहण की दृष्टि से दूसरा त्याग की दृष्टि से। ग्रहण की दृष्टि से निज-स्वभाव में रमणता अर्थात् पर निरपेक्ष ज्ञान में तथा निज शान्ति स्वभाव में आचरण। त्याग की दृष्टि से पर पदार्थ का, पर परिणति का पर के ज्ञान में रमणता का तथा आचरण का त्याग। इस धर्म में यद्यपि सभी कषायों के त्याग की बात है परन्तु वेद-कषाय (काम वासना) तथा पंचेन्द्रिय विषयक भोग सामग्री के त्याग की विशेषता है। ब्रह्मचर्य की व्याख्या कर देने के पश्चात् यह देखना है कि ब्रह्मचारी कौन है ? क्या केवल मनुष्यणी का सम्पूर्ण त्याग कर देने वाला या लक्ष्मी का संपूर्ण त्याग कर देने वाला ? ऐसा नहीं है, ब्रह्मचारी में पड़ा यह 'चारी' शब्द मार्ग का द्योतक है अर्थात् ब्रह्मचारी कहते हैं ब्रह्म के मार्ग में गमन करने वाले को अर्थात् हीनाधिक रूप से लक्ष्मी के त्यागी को। पूर्ण त्यागी वास्तव में 'चारी' नहीं हो सकता, वह तो 'ब्रह्म' ही हो जायेगा। पूर्णता के पश्चात् मार्ग

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का अन्त हो जाता है फिर मार्गी या चारी नहीं कहा जा सकता। अत: पूर्ण ब्रह्म के लक्ष्य पर पहुँचने के लिए हीनाधिक रूप से लक्ष्मी का त्याग करने वाला अर्थात् त्याग के मार्ग पर चलने वाला ब्रह्मचारी है।

यदि प्रश्न करें कि कितने त्यागी को ब्रह्मचारी कहें ? तो इसके लिए कोई सीमा नहीं बाँधी जा सकती, जिस प्रकार कि मद्य पीने की आदत को छोड़ने के लिए जो प्रयास कर रहा है, उसे कब जाकर मद्य का त्यागी कहें ? वास्तव में पहले दिन ही जबकि उसने केवल एक घूँट कम की थी वह त्यागी की कोटि में आ गया था, भले लोग उसके त्याग को न जान पावें। धीरे-धीरे जब मद्यशाला में भी जाने का त्याग कर देगा तब ही लोक जान पायेगा कि वह त्यागी है। परन्तु लोगों की दृष्टि में आ जाना त्याग का माप दण्ड नहीं है, मार्ग के ऊपर पहला पग रखते ही व्यक्ति पथिक बन जाता है। पथ पर आगे-पीछे चलने वाले व्यक्ति भले ही लक्ष्य की निकटता व दूरता के कारण अगले व पिछले कहलायें परन्तु ऐसा कोई नहीं जिसे हम पथिक न कह सकें। पथिक सब हैं भले आगे वाला हो या पीछे वाला। बस इसी प्रकार यहाँ त्याग सम्बन्धी ब्रह्मचर्य के मार्ग में भी लागू कर लेना। जिस दिन त्याग का अभिप्राय किया उस दिन ही वह त्यागी की कोटि में आ गया। ज्यों-ज्यों अधिक त्याग करता जायेगा, त्यों-त्यों आगे बढ़ता जायेगा, अधिकाधिक उत्तम विशेषण को धारण करता जायेगा। जघन्य से उत्कृष्ट पर्यन्त इस ब्रह्मचर्य के मार्ग में भी, अन्य प्रकरणों में कथित मार्ग की भाँति क्रम पड़ता है। क्रमानुसार केवल उत्तमता के विशेषणों में ही अन्तर पड़ता है, ब्रह्मचर्यपने में नहीं। प्रथम क्षण में भी ब्रह्मचारी है और अन्तिम क्षण में भी ब्रह्मचारी है, अभिप्राय त्याग का होना चाहिए।

सर्वत्र अभिप्राय की मुख्यता है। त्याग के अभिप्राय-रहित किसी कारणवश स्त्री व लक्ष्मी की प्राप्ति न हो सके, उसे ब्रह्मचारी नहीं कह सकते, और थोड़े या अधिक त्याग के अभिप्राय-सहित स्त्री या लक्ष्मी में रमण करता हुआ भी ब्रह्मचारी कहा जा सकता है। स्त्री या लक्ष्मी का पूर्ण त्यागी ही ब्रह्मचारी हो ऐसा नहीं है, अल्पत्यागी भी यथायोग्य रूप से ब्रह्मचारी है। अन्य प्रकरणों की तरह यहाँ भी ब्रह्मचारी की परीक्षा विषयों के त्याग पर से करनी है, विषयों के ग्रहण पर से नहीं। यदि ग्रहण पर से करने लगोगे तो बात गले न उतरेगी। वर्तमान क्रिया को न देखकर जितना त्याग किया है उसको देखना। त्याग का नाम ही ब्रह्मचर्य है, अंशमात्र भी विषयों में रमणता का नाम ब्रह्मचर्य नहीं हो सकता। ग्रहण की ओर से देखें तो मुनि को भी ब्रह्मचारी नहीं कह सकोगे क्योंकि आहार-ग्रहण का नाम ब्रह्मचर्य नहीं, जितना त्याग हुआ है उतना ही ब्रह्मचर्य है। स्त्री त्याग के पश्चात् बाहर में स्पष्ट त्याग दिखाई दे जाने पर लोक में जो ब्रह्मचारी कहा जाता है उसमें भी त्याग की ओर देखकर ही निर्णय किया गया है। देखो एक भील ने केवल कौवे का माँस खाना छोड़ दिया और अन्य जन्तुओं का माँस खाता रहा तो भी वह इस किंचित् त्याग की अपेक्षा कुछ श्रेष्ठ समझा गया। परन्तु इसका निर्णय त्याग की ओर से हुआ अन्य-माँस के ग्रहण पर से नहीं। एक चाण्डाल ने केवल चतुर्दशी की हत्या करने का त्याग किया परन्तु अन्य दिन हत्या करता रहा। उसके व्रत का निर्णय भी त्याग की ओर से ही किया गया अन्य दिनों की हत्या से नहीं।

३. क्रमोन्नत विकास—उपरोक्त कथन का स्पष्टीकरण करने के लिए जिसका त्याग करना इष्ट है ऐसे सम्पूर्ण वस्तु-समूह या लक्ष्मी का विश्लेषण करना होगा। सम्पूर्ण सामग्री या लक्ष्मी को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है—एक वह जिस पर कि राज्य व लोक की दृष्टि में मेरा अधिकार है अर्थात् जो मेरे स्वामित्व में है, और दूसरी वह जिस पर राज्य व लोक की दृष्टि में मेरा कोई अधिकार नहीं है अर्थात् जो दूसरों के स्वामित्व में है। यद्यपि आकिञ्चन्य धर्म में बताए अनुसार सम्पूर्ण सामग्री का षट्कारक रूप से त्याग करना इष्ट है, पर प्रथम क्षण में ऐसा होना सम्भव नहीं। अत: त्याग-मार्ग पर पग रखते हुए धीरे-धीरे सम्पूर्ण में से कुछ-कुछ का त्याग करना होगा। आप ही बताइये कि उपरोक्त दो भागों में से पहले किस भाग का त्याग करना उचित है, अपने स्वामित्व में रखी लक्ष्मी का या अन्य के स्वामित्व में रखी का। स्पष्ट है कि अन्य की लक्ष्मी का त्याग पहले होगा। परन्तु अन्य की लक्ष्मी का त्याग तो पहले से ही है ? सो भी बात नहीं है भाई ! यहाँ उस अभिप्राय का त्याग मुख्य है जिसके कारण कि मेरी लालायित दृष्टि उसकी ओर खिंच जाती है। साक्षात् रूप से तो उसका भोग मैं कर ही नहीं सकता, या तो चोरी कर सकता हूँ या केवल देखकर लालसा कर सकता हूँ, अत: ब्रह्मचारी के प्रथम पग में अन्य की वस्तु को चुराने का यो उसे देखकर लालसा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करने का त्याग हुआ। यह त्याग यद्यपि लोगों की दृष्टि में कोई महत्व नहीं रखता परन्तु वास्तव में यदि विचार करके देखा जाए तो अपनी लक्ष्मी के त्याग की अपेक्षा इसका महत्व अधिक है, क्योंकि अन्य की लक्ष्मी मेरी लक्ष्मी से अनन्त गुणी है, उसका सर्व का ही त्याग हो गया, रह ही कितनी गई, जिसे यदि सम्पूर्ण के बराबर रखकर देखें तो रखी भी दिखाई न दे। इसलिये वह व्यक्ति जिसने कि अन्य की सम्पत्ति पर, उनके द्वारा विवाह कर लाई गई, उनके स्वामित्व में रहने वाली स्त्रियों पर तथा उनकी कंवारी कन्याओं पर विकार भाव से दृष्टिपात करने का त्याग कर दिया है, ब्रह्मचारी है, भले ही इनके अतिरिक्त अपनी सम्पत्ति व स्त्री में कितना भी रमण क्यों न करे। परीक्षा त्याग पर से करनी है, रमणता पर से नहीं।

आगे त्याग की दूसरी श्रेणी चलती है। साधक यहाँ निज लक्ष्मी का भी त्याग करना प्रारम्भ करता है। एकदम सारी लक्ष्मी का हर प्रकार से त्याग असम्भव है, अतः थोड़ा-थोड़ा करता है। अपनी धर्मपत्नी में अति गृद्धता का त्याग करता है और ऐसा आचार-विचार तथा भोजन पान करता है जो कामभाव का पोषक न हो। अपनी सम्पत्ति के कुछ भाग का भी दान के रूप में त्याग कर देता है और स्व पर-भेदज्ञान में बाधक विकल्पों का भी त्याग करता है। त्याग की अपेक्षा ही पहले से श्रेष्ठ है यह, ग्रहण की अपेक्षा नहीं।

तीसरी श्रेणी में आकर वह भोगों से कुछ अंशो में विरक्त हो जाता है, कुछ संयम ग्रहण कर लेता है और दिन के समय काम-भोग का सर्वथा नियम से त्याग कर देता है। निर्यमित त्याग करने से उस प्रकार के विकल्प शान्त हो जाते हैं, बुद्धि में स्थिरता पैदा होती है। आत्म-ध्यान में स्थिरता प्राप्त करने के लिए नियमित रूप से तीन काल सामायिक करता है। इससे भी ऊपर आकर धन-धान्य, रुपया-पैसा आदि सभी प्रकार के परिग्रह का परिमाण कर लेता है, जिससे उसकी आवश्यकतायें सीमित हो जाती हैं, बाह्य आरम्भ के अथवा परिग्रह को अधिक एकत्र करने के विकल्प नहीं रहते, संयम का स्तर पहले से ऊँचा हो जाता है, काम भोग को भी बहुत अंशों में छोड़ देता है। अष्टमी, चतुर्दशी आदि साधारण पर्व तथा अष्टाह्निका, सोलहकारण, दशलक्षण-धर्म, रत्नत्रय धर्म आदि विशेष पर्व, इन दिनों में तथा तीर्थ यात्रा के दिनों में विशेष संयम से रहता है। यहाँ पर त्याग की मात्रा पहले से अधिक बढ़ जाती है।

चौथी श्रेणी में आकर त्याग की मात्रा और अधिक बढ़ जाती है। धन सम्पत्ति का और अधिक त्याग कर देता है, अपनी धर्मपत्नी से भी काम-भोग का पूर्णतया त्याग कर देता हे, अधिक समय धर्म-ध्यान में बिताता है, सभी प्रकार के विषय-भोगों से अधिक मात्रा में विरक्त हो जाता है। इस श्रेणी में आने पर वह ब्रह्मचारी पद से विभूषित हो जाता है, यद्यपि असली अर्थों में पूर्ण ब्रह्मचारी नहीं होता, क्योंकि पूर्णतया विकल्पों का अभाव यहाँ नहीं हुआ है। इस श्रेणी में आकर यद्यपि लोगों की दृष्टि में वह पूर्ण ब्रह्मचारी हो गया है, परन्तु क्योंकि स्त्री के साथ लगी लक्ष्मी अभी तक चली आ रही है इसलिए उसका त्याग किये बिना वह अभी पूर्ण ब्रह्मचारी नहीं कहा जा सकता, उसे भी छोड़ना होगा। यद्यपि इस श्रेणी में लक्ष्मी का संसर्ग बहुत कम है, पर है अवश्य। इसमें भी क्रम से और कमी करता हुआ पाँचवीं श्रेणी में एक लंगोटी व एक चादर के अतिरिक्त अन्य सर्व का त्याग कर देता है। वह भी ब्रह्मचारी है, चौथी श्रेणी से ऊँचा। यहाँ भी रुकता नहीं, लंगोटी व चादर का भी त्याग कर देता है और बन जाता है नग्न-साधु। वह भी ब्रह्मचारी है, पाँचवी श्रेणी से ऊँचा।

इस छठी श्रेणी में आने पर यद्यपि स्थूल दृष्टि से अब यह पूर्ण ब्रह्मचारी कहा जा सकता है, क्योंकि इसके पास स्त्री है न सम्पत्ति, सर्व त्याग हो चुका है, त्यागने को और शेष नहीं रहा, परन्तु सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर इसके पास कुछ और भी है और वे हैं उसके अन्तरंग विकल्प। अब तक के क्रमपूर्वक किये गये सर्व त्याग के साथ-साथ अन्तरंग विकल्पों का त्याग भी बराबर होता चला आ रहा था। जैसा कि पहले भी कई बार बताया जा चुका है और पुनः पुनः बताया जा रहा है, संवर के इस प्रकरण में अन्तर-विकल्पों के प्रशमन करने का पुरुषार्थ ही मुख्यता से किया जा रहा है। उनके प्रशमन करने के लिए ही या उनके प्रशमन के फलस्वरूप ही यह सर्व बाह्य का त्याग है, वह न हो तो इस त्याग का कोई मूल्य नहीं। इसलिए बहुत अधिक विकल्प दब चुके हैं परन्तु अब भी कुछ शेष हैं जिन्हें त्यागना है। पहले कुछ देर के लिए त्यागता है और हो जाता है ध्यानस्थ, शान्ति में निमग्न, निर्विकल्प। यह भी ब्रह्मचारी है, छटे से ऊँचा पर पूर्ण नहीं, क्योंकि अभी भी संस्कार शेष हैं जो थोड़ी देर पश्चात् इसमें फिर विकल्प उत्पन्न कर देंगे।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आठवीं श्रेणी में पदार्पण करने पर अन्तरंग के इन सूक्ष्म संस्कारों को भी काटकर पूर्णशुद्ध, पूर्ण-निर्विकल्प, सहज स्वभावस्वरूप परमात्मा अर्थात् अरहन्त पद को प्राप्त हो जाता है। यहाँ पर वह शील में बाधक १८००० दोषों से मुक्त हो जाता है अर्थात् पूर्ण ब्रह्मचारी हो जाता है। यद्यपि शरीर बाकी रह जाता है तदपि मोह तथा रागद्वेष का पूर्णतया अभाव हो जाने से इसके सम्बन्ध में कोई विकल्प नहीं रहता। मार्ग समाप्त हो जाता है। शरीर को भी त्याग देने पर लक्ष्य तथा साध्य को पूर्णतया प्राप्त कर लेने के कारण पूर्ण-ब्रह्म, सिद्धप्रभु बन जाता है वह।

यद्यपि आदर्श ब्रह्मचर्य-धर्म का पालन तो योगी जन ही करते हैं, तदपि हम भी अपनी योग्यतानुसार कर सकते हैं। हे शान्ति के उपासक ! निज शान्ति की रक्षा के लिए अन्तर्दाह को उत्पन्न करने वाले इस स्त्री-संसर्ग का कुछ परिमाण कर। परस्त्री, वेश्या व दासी का तो त्याग होना ही चाहिए, स्वस्त्री में भी दिन के समय काम-भोग का त्याग अवश्य कर, तथा पर्व के दिनों में पूर्ण-ब्रह्मचर्य धारण करके आगे बढ़ने का अभ्यास कर।

जैसा कि व्रतों के प्रकरण में पहले बताया जा चुका है, पथिक के मार्ग में अनेकों रुकावटें आती हैं और व्रतों में भी अनेकों बार दोष लग जाते हैं। यहाँ भी उसे भूलना नहीं चाहिए। ब्रह्मचर्य या त्याग-धर्म का उपरोक्त रीति से पालन करते हुए साधक को दोष लग जाने की सम्भावना है, यह कषायों की विचित्रता है। उन दोषों का साधक को प्रायश्चित्, आत्म-निन्दा तथा गर्हा द्वारा निर्मूलन करते रहना चाहिए और आगे के लिए अत्यन्त सावधान रहना चाहिए। ❑

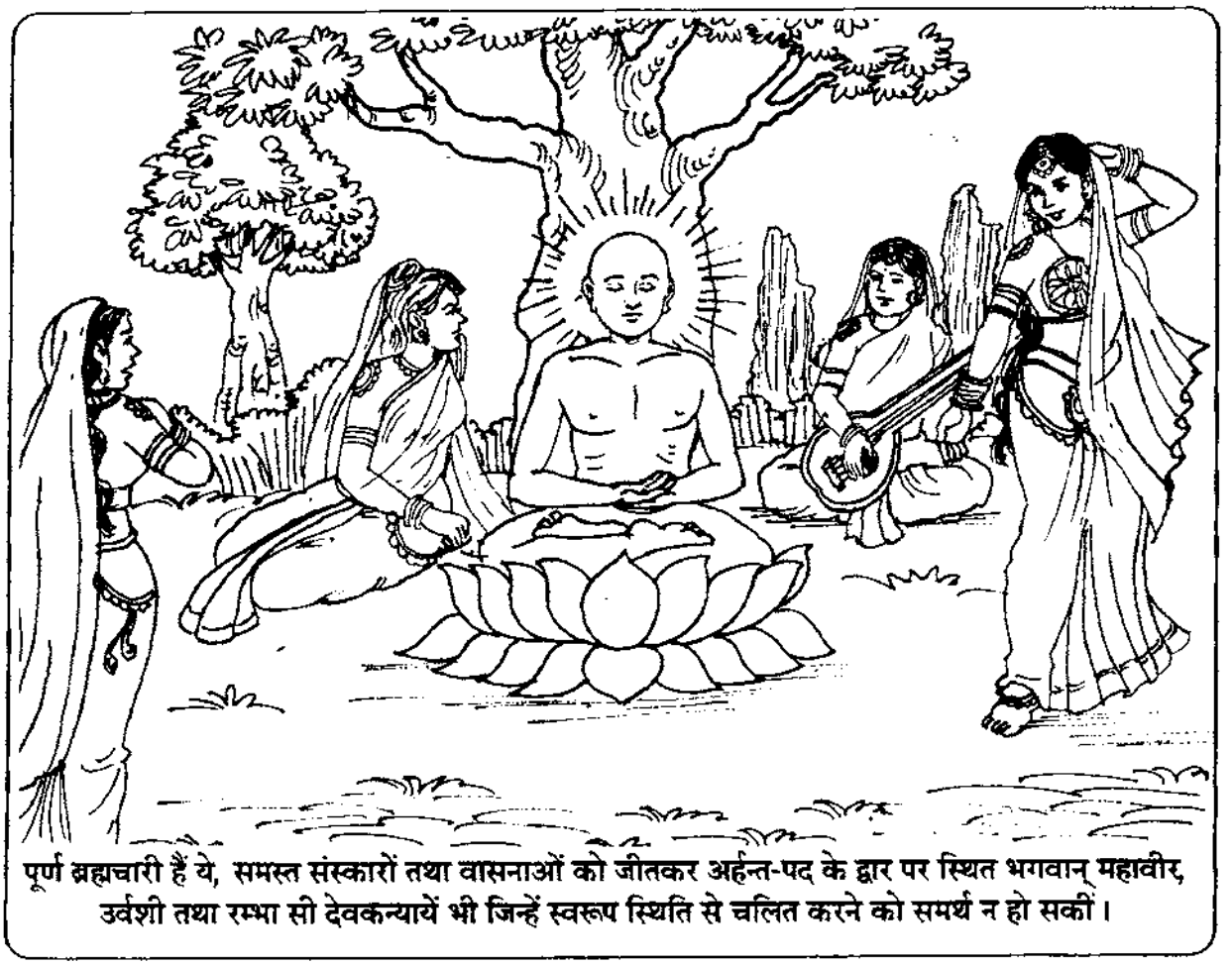

पूर्ण ब्रह्मचारी हैं ये, समस्त संस्कारों तथा वासनाओं को जीतकर अर्हन्त-पद के द्वार पर स्थित भगवान् महावीर, उर्वशी तथा रम्भा सी देवकन्यायें भी जिन्हें स्वरूप स्थिति से चलित करने को समर्थ न हो सकीं।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org